॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥

गीता यथार्थ-बोध

श्रीमद्भगवद्गीता

का

(सन्दर्भों और टिप्पणियों सहित)

हिंदी में अनुवाद

अनुवादक : इन्द्र कुमार गर्ग

संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रकाशित

प्रकाशक : इन्द्र कुमार गर्ग
6445 व. रिकर्ट एवेन्यू
फ्रेस्नो कैलिफोर्निया 93723

(ISBN: 979-8-218-55341-8)

प्रस्तुत अनुवाद में विभिन्न आचार्यों और विचारकों के
भाष्यों और अनुवादों का समावेश है,
विशेषकर निम्नोक्त द्वारा रचित :

शङ्कराचार्य (अनुमानित 788-820)
अभिनवगुप्त (अनुमानित 950-1016)
रामानुजाचार्य (अनुमानित 1017-1137)
मध्वाचार्य (अनुमानित 1238-1317)
आनंदगिरि (अनिश्चित चौदहवीं शताब्दी)
संत ज्ञानेश्वर (अनुमानित 1275-1296)
श्रीधर स्वामी (अनिश्चित तेरहवीं शताब्दी)
मधुसूदन सरस्वती (अनुमानित 1540-1640)
बलदेव विद्याभूषण (अनुमानित 1720-1790)
जे. कॉकबर्न थॉमसन (1834-1860)
जॉन डेवीस (18??-1890)
के. टी. तेलंग (1850-1893) और मैक्स मूलर (1823-1900)
बाल गंगाधर तिलक (1856-1920)
एनी बेसेंट (1847-1933) और भगवानदास (1869-1958)
ए. एम. शास्त्री (1861-1926)
डब्ल्यू. डगलस पी. हिल (1884-1962)
एस. राधाकृष्णन (1888-1975)
स्वामी रामसुखदास (1904-2005)

-: गुरुदेव दयालु मुनि जी, महान आचार्यों और विचारकों को समर्पित :-

भूमिका

जगद्‌गुरु आदि शंकराचार्य से लेकर वर्तमान अनुवादक तक श्रीमद्भगवद्गीता (अर्थात् गीता) के कई ज्ञात अनुवाद हैं जिनके विषय में वर्तमान अनुवादक की समझ भी अभी अधूरी है।

इतने अनुवादों के बीच प्रस्तुत अनुवाद क्यों?

वर्ष 1995 में मैं हैदराबाद (भारत) में स्टेट बैंक इंस्टीट्यूट ऑफ रूरल डेवलपमेंट में एक युवा प्रबंधक के रूप में एक प्रबंधन विकास कार्यक्रम में भाग ले रहा था, जहाँ मुझे एक नई अनुभूति हुई। एक दिन प्रशिक्षक ने हमसे हमारी रूचियों के विषय में पूछा। मेरे दिमाग में विचार कौंधने लगे और जब मेरी बारी आई, मैं अपना जवाब 'गीता पढ़ना' के साथ तैयार था। प्रशिक्षक आश्चर्य से एक पल के लिए रुके और बोले "अच्छा, तो देही किसे कहते हैं?" उस क्षण मुझे यह अनुभूति हुई कि गीता पढ़ना केवल एक रूचि नहीं हो सकती; इसके गहरे अर्थ के लिए, अस्तित्व के जटिल विषयों की गहरी समझ के लिए, हम कौन हैं, हम कहाँ से विकसित हुए और अपने जीवन की यात्रा के अंत में कहाँ विलीन हो जाते हैं, इसकी खोज करने की आवश्यक्ता है । गीता अध्ययन आत्म-साक्षात्कार की खोज है। इस प्रकार, वहाँ मुझे इसके पढ़ने का एक नया उद्देश्य मिला !

इस पुस्तक का उद्देश्य न केवल गीता के श्लोकों का अनुवाद करना और गीता के बारे में जो मैं जानता हूं और समझता हूं उसे साझा करना है, बल्कि अन्य हिंदू धार्मिक ग्रंथों के मुकाबले गीता के संदेश का संदर्भ देना और यह दिखाना भी है कि यह कितना समृद्ध और अंतर-संबंधी है। हिंदू विचार आपस में जुड़ा हुआ है। अपने अनुवाद में मुझे कई टिप्पणी-कारों के विचारों और कई हिंदू ग्रंथों का उल्लेख करने का अवसर मिला। इस खोज के दौरान, मुझे विचारों की प्रस्तुति में कई समानताएं और अंतर भी मिले, कुछ मामूली और कुछ महत्वपूर्ण।

विभिन्न टीकाकारों द्वारा श्लोकों की व्याख्याएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। कुछ टीकाकारों ने गीता की व्याख्या विशुद्ध रूप से दार्शनिक दृष्टिकोण से की है, जबकि कई अन्य ने इसे अपने-अपने विश्वास और विचारधारा के आधार पर समझाया है। इसलिए, वे इसके अपने अर्थ निकालते हैं। उदाहरण-स्वरूप शंकराचार्य श्लोक 11.55 को गीता की संपूर्ण शिक्षा का सारांश मानते हैं, वैष्णव परंपराओं के अनुयायी श्लोक 18.66 को इसका केंद्र-बिंदु मानते हैं। गौड़ीय संप्रदाय से संबंधित टिप्पणीकार श्लोक 10.8-11 को भक्ति-योग का चरम बिंदु मानते हैं। इस अनुवाद में मेरा प्रयास मेरे सामने आए सभी दृष्टिकोणों को स्थान देना है।

मैंने यहां गीता पर सबसे उल्लेखनीय टिप्पणीकारों की एक सूची शामिल की है जिनकी टिप्पणियों को बहुत सम्मान दिया जाता है और मेरे अनुवाद में उनसे स्वतंत्र रूप से परामर्श लिया गया है। मैं यह जानने के प्रयास में कि गीता ने कितना प्रभावित किया है और उसमें प्रतिपादित विचारों से कितना प्रभावित हुआ है, उन ग्रंथों में समान अंश और संदेश खोजने के प्रयास में मुझे कई अन्य धार्मिक ग्रंथों का भी उल्लेख करना पड़ा। इनमें वेद, कुछ प्रमुख उपनिषद, पुराण (भागवत, विष्णु, मार्कंडेय, कूर्म, मत्स्य), स्मृति (मनु, विष्णु) और कुछ अन्य ग्रंथ (ब्रह्म सूत्र, योग वशिष्ठ, भक्ति सूत्र, योग सूत्र) शामिल हैं। इस अनुवाद में इन टिप्पणीकारों के विचारों और धार्मिक ग्रंथों के प्रासंगिक अंशों का संदर्भ उद्धृत किया गया है।

गीता और इन अन्य धार्मिक ग्रंथों की प्राचीनता में गए बिना (यह स्थापित करने के लिए कि कौन किसका अनुसरण करता है), मैंने इन ग्रंथों में दूर-दूर तक बिखरे हुए गीता के संदेश को एक संदर्भ देने की कोशिश की है । गीता के

विचारों की समृद्धि, जिसे इतनी कुशलतापूर्वक और सुंदरता से चित्रित किया गया है, सही अर्थों में इसे 'गागर में सागर' नाम देती है !

एक स्वीकारोक्ति यह कि यहां हिंदू शब्द का तात्पर्य उस सामान्य अर्थ से है जिसमें वैदिक सनातन धर्म और उसकी सभी शाखाएं जो स्वयं को हिंदू के रूप में पहचानती हैं। एक और स्वीकारोक्ति यह है कि यद्यपि गीता का संदेश अन्य धर्मों के ग्रंथों में भी पाया जाता है, मैंने स्वयं को केवल हिंदू ग्रंथों तक ही सीमित रखा है।

पाठक टिप्पणियों और सन्दर्भों को आरंभ में छोड़ सकते हैं और बाद में इन्हें पढ़ सकते हैं, यदि वे इन स्पष्टीकरणों के विवरण में जाकर अपना ध्यान खोना नहीं चाहते हैं; यद्यपि टिप्पणियां अर्थ की अधिक स्पष्टता के लिए हैं और संदर्भ अन्य ग्रंथों में समान प्रासंगिक सामग्री खोजने के लिए हैं।

अंत में, यह पुस्तक एक एकल प्रयत्न था, अतः सभी अशुद्धियों और कमियों का दोष पूरी तरह से लेखक का है।

विषय सूचि

संक्षिप्त परिचय

आत्मा क्या है, परमात्मा क्या है और आत्मा और परमात्मा के मध्य क्या संबंध है, इसका उत्तर खोजने में हिंदू विचार अनादि काल से लगा हुआ है। इन विषयों पर वेदों, उपनिषदों और ऋषियों द्वारा लिखे गए कई अन्य ग्रंथों में चर्चा और उत्तर मिलते हैं। गीता इन प्रश्नों को फिर से उठाती है और प्रस्तुत विचारों को नई अंतर्दृष्टि के साथ संश्लेषित करके उत्तर प्रस्तुत करती है।

पुनर्जन्म का विषय और यह पिछले जन्मों में किसी के कार्यों से कैसे प्रभावित होता है, यह समझाया गया है कि आत्मा कैसे निर्लेप रहती है (गीता 13.33) और पिछले जन्म को छोड़ने के साथ ही सूक्ष्म तत्वों को अगले जन्म में ले जाती है (गीता 15.8)। प्रत्येक क्रमिक जन्म में, यह पिछले जन्म से चेतना की सीढ़ी तक अपनी यात्रा फिर से आरम्भ करता है जैसे कि परमधाम की सीढ़ी पर ऊपर की ओर कदम बढ़ा रहा हो; प्रत्येक जन्म, एक तरह से, उस सीढ़ी पर एक कदम के रूप में गिना जाता है (गीता 6.40-45) । गीता किसी की मृत्यु के समय द्वारा प्रभावित पुनर्जन्म की परिस्थितियों और मृत्यु के उपरांत अपनाए गए मार्ग पर भी श्रुति (वेद और उपनिषद) के अनुरूप चर्चा करती है (गीता 8.10-15, 8.23-8.26)।

स्व (आत्म) की दोहरी प्रकृति का वर्णन इस प्रकार किया गया है - निचला या व्यक्तिगत स्व और उच्च या सार्वभौमिक स्व, जिसे उपनिषदों में 'एक पेड़ पर दो पक्षियों' के प्रसिद्ध दृष्टांत के साथ समझाया गया है। जबकि निचला स्व बद्ध आत्मा है जो द्वंद्वों और इच्छाओं में फंसा हुआ है, उच्च स्व परमात्मा है (गीता 6.5-7)। आत्मा और परमात्मा के बीच संबंध पर वेदांती अपने विचारों में भिन्न हैं। अद्वैतियों का मानना है कि आत्मा और परमात्मा अविभाज्य हैं। गीता 15.7 में कहा गया है कि जीवात्मा का निर्माण परमात्मा के अंश से हुआ है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि परमात्मा खंडित हो जाता है; वह अविभाज्य है और आत्मा एक इकाई के रूप में परमात्मा का अभिन्न अंग बनी रहती है। परन्तु गैर-अद्वैतवादी इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं।

निस्संदेह, जन्म और मृत्यु के चक्र से अंतिम मुक्ति कैसे प्राप्त की जाए, इस विषय का गीता में व्यापक वर्णन है। श्लोक 8.16 बताता है कि परमधाम को छोड़कर सभी लोक पुनर्जन्म के अधीन हैं। जब कोई मनुष्य अपने पुण्यों की समाप्ति के उपरांत इस संसार में लौटता है (गीता 9.21), तो उसका जन्म कहाँ होगा, यह गीता 14.14-15, 6.41-42 का विषय है। जो लोग पुनर्जन्म में वापस आते हैं उनके लिए मुक्ति का मार्ग गीता 6.43-45 में बताया गया है। अध्याय 8 बताता है कि मुक्ति पाने के लिए मृत्यु के समय व्यक्ति को क्या करना चाहिए (यद्यपि यह केवल उन लोगों पर लागू होता है जो अपनी मृत्यु का समय जानते हैं!)।

गीता परमात्म-प्राप्ति (अंतिम मुक्ति) के लिए चार मार्गों का वर्णन करती है - ज्ञान, ध्यान, कर्म और भक्ति - और फिर यह बताती है कि कौन सा मार्ग किन परिस्थितियों में सबसे उपयुक्त है। प्रारंभ में, यह ज्ञान को गौरवपूर्ण स्थान देती प्रतीत होती है, लेकिन जल्द ही कर्म पर आ जाती है। स्पष्टीकरण इतना उलझा हुआ है कि अर्जुन भी भ्रमित हो जाता है और अपनी हताशा दिखाता है जो कि अध्याय 3 का विषय है। ध्यान (आत्म-संयम) की चर्चा अध्याय 6 में और भक्ति की चर्चा अध्याय 12 में की गई है। विशेष रूप से, गीता 7.17-19 में ज्ञान को ऊंचा बताया गया है; गीता 12.6-7 में ध्यान को और गीता 6.47 और 12.10 में भक्ति को। गीता 12.12 कुछ सीमा तक मार्गों के पदानुक्रम को निर्धारित करती है जो बढ़ती प्राथमिकता के क्रम में ज्ञान, ध्यान, कर्म और भक्ति का आकार लेता है। हालाँकि, यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि गीता का सबसे विशिष्ट संदेश कर्म-योग है, जो फल की इच्छा से रहित कार्य है और उस कार्य के प्रति आसक्ति के माध्यम से कर्तापन से मुक्ति है।

एक और कठिन विषय संन्यास और त्याग के मध्य दार्शनिक रूप से अंतर करना है क्योंकि अंतर सूक्ष्म है। संन्यास को इच्छा से प्रेरित कार्य का त्याग कहा जाता है (सभी कार्य नहीं, केवल वह जो काम्य कर्म है) जबकि त्याग में सभी कार्यों के फल का त्याग शामिल है (कर्म का बिल्कुल भी त्याग नहीं, केवल उस के फल या परिणाम का त्याग जो कर्म में आसक्ति का कारण है) (गीता 18.2)। फिर गीता आगे कहती है कि संन्यास इच्छा का अभाव है (गीता 18.49)। चूँकि फल की इच्छा और फल के प्रति आसक्ति का प्रभाव समान होता है, और इसलिए भी कि संन्यास और त्याग दोनों के पीछे मूल विचार 'त्याग' है, इन्हें बहुधा (अक्सर) एक दूसरे के समानार्थक के रूप में प्रयोग किया जाता है। गीता 2.47 में सभी के लिए त्याग की अनुशंसा की गई है।

इसके अतिरिक्त गीता तीन गुणों पर विस्तार से चर्चा करती है। संपूर्ण सृष्टि गुणों से बनी है जो प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। गुण किसी के व्यक्तित्व के निर्माण खंड हैं। वे गुण ही हैं जो मनुष्य को अच्छे या बुरे कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं, इसलिए श्री कृष्ण अपने प्रवचन के आरम्भ में ही अर्जुन को इन गुणों से मुक्त होने के लिए कहते हैं (गीता 2.45)। तदुपरांत अध्याय 14 में, श्री कृष्ण ने तीनों गुणों की विशेषताओं का विस्तार से वर्णन किया है। फिर, अर्जुन पूछता है कि ऐसे व्यक्ति की पहचान कैसे की जाए जो गुणों से परे है, जिसका उत्तर श्री कृष्ण श्लोक 14.22-26 में देते हैं। आगे बताया गया है कि कैसे एक व्यक्ति को विभिन्न गतिविधियों और क्षमताओं के आधार पर सात्विक, राजसिक या तामसिक के रूप में पहचाना जाता है; विशेष रूप से अध्याय 17 में श्रद्धा, भोजन, यज्ञ, दान, तप और अध्याय 18 में त्याग, ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति, सुख।

गीता पूजा के सभी तरीकों, सभी रूपों (देवताओं) को पूजा के लक्ष्य के रूप में स्वीकार करती है और किसी का निषेध (उपहास, अनादर) नहीं करती है; यह केवल अन्य विधियों को 'निर्धारित विधि के विपरीत' कहती है (गीता 9.23) क्योंकि यह कहती है कि विभिन्न आस्थाओं द्वारा अपनाए गए सभी मार्ग केवल उसी (परमात्मा) तक जाते हैं (गीता 4.11) और विश्वास दिलाती है कि भक्त जिस भी रूप (देवता) की पूजा करना चाहता है, उसकी आस्था उसी रूप (देवता) में स्थिर हो जाएगी (गीता 7.21)।

गीता एक श्रद्धावान हिंदू के जीवन के लगभग सभी पहलुओं को प्रभावित करती है। गीता में कुछ बहुत सुंदर श्लोक हैं जिन्हें दैनिक प्रार्थना में गाया (उच्चारित किया) जा सकता है, विशेष रूप से श्लोक 10.12, 10.15, 11.18, 11.38-39 । इसी तरह, अध्याय 2 के श्लोक, विशेष रूप से आत्मा की प्रकृति और उसके देहांतरण से संबंधित, जो कठोपनिषद् और विष्णुस्मृति में भी समान रूपों में हैं, उस व्यक्ति को सुनाये जाते हैं जो मृत्यु-शय्या पर है; इसी तरह, अध्याय 8 से कुछ श्लोक । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य लोग गीता को नहीं पढ़ सकते; वस्तुतः अनेक महापुरुषों ने गीता से प्रेरणा ली है।

इस प्रकार, वेदांत दर्शन गीता के मूल में पाया जाता है। जैसा कि इसके हर अध्याय के अंत में याद दिलाया गया है, गीता एक साथ उपनिषद, ब्रह्म-विद्या और योग की पुस्तक है।

एक छोटी सी पृष्ठभूमि

कौरवों की सेनाओं और पांडवों की सेनाओं के बीच हस्तिनापुर (वर्तमान उत्तर प्रदेश में दिल्ली के पास) राज्य पर नियंत्रण के लिए युद्ध लड़ा जाने वाला था। कौरव धृतराष्ट्र (कुरु के वंशज) के पुत्र थे और पांडव पांडु के पुत्र थे। धृतराष्ट्र और पांडु भाई थे। यद्यपि धृतराष्ट्र और पांडु दोनों कुरु के वंशज थे और दोनों कौरव कहलाने का समान अधिकार रखते थे, तथापि धृतराष्ट्र के पुत्रों को कौरव कहा जाता था क्योंकि वह राजा थे और पांडु के पुत्रों को पांडव कहा जाता था। इस युद्ध के स्थल के रूप में कुरुक्षेत्र (वर्तमान हरियाणा में) को चुना गया था जिसमें कहा जाता है कि उस समय के सभी क्षत्रिय कुलों ने भाग लिया था। युद्ध पांडवों ने जीत लिया लेकिन उस समय के योद्धा वर्ग के बड़े विनाश के बाद।

गीता इस युद्ध के आरम्भ से पहले शिक्षक के रूप में श्रीकृष्ण (भगवान के अवतार) और उनके मित्र अर्जुन (पांडु के पुत्र और पांडव सेना के प्रमुख योद्धा) के मध्य एक दार्शनिक प्रवचन का विवरण है। अर्जुन सामान्य तौर पर युद्ध के सही और गलत होने और विशेष रूप से अपने ही रिश्तेदारों को मारने के बारे में दुविधा और भ्रम की स्थिति में फंस गया था। इसलिए, उसने सही मार्गदर्शन के लिए श्री कृष्ण की ओर देखा ।

इस प्रकार, गीता अर्जुन की निराशा की स्थिति से आत्मज्ञान की स्थिति तक की आध्यात्मिक यात्रा है।

अथ प्रथमोऽध्यायः

अर्जुनविषादयोगः

धृतराष्ट्र उवाच । धृतराष्ट्र ने कहा।
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः । मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १-१

1.1. हे संजय, धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्रित हुए युद्ध के इच्छुक मेरे (पक्षकार अथवा पुत्रों) और पांडवों ने क्या किया?

सञ्जय उवाच । संजय ने कहा।
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा । आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ १-२॥

1.2. इस पर पाण्डवों की व्यूहरचित सेना को देखकर, राजा दुर्योधन (यहाँ धृतराष्ट्र को प्रसन्न करने हेतु राजकुमार दुर्योधन को राजा कहा गया) ने आचार्य (द्रोण) के पास जाकर (यह) वचन कहा :

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् । व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ १-३॥

1.3. हे आचार्य, आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र (धृष्टद्युम्न) द्वारा व्यूहाकार की हुई पाण्डुपुत्रों की इस भारी सेना को देखिए।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि । युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ १-४॥

1.4. यहाँ युद्ध में भीम और अर्जुन के समान शूरवीर, बड़े धनुर्धर, युयुधान (सात्यकि) और विराट तथा महारथी द्रुपद हैं;

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् । पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ १-५॥

1.5. और धृष्टकेतु, चेकितान तथा वीर्यवान् (बलवान) काशिराज, पुरुजित और कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य;

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् । सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ १-६॥

1.6. और पराक्रमी युधामन्यु और वीर्यवान् (बलवान) उत्तमौजा, सौभद्र (सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु) और द्रौपदी के पुत्र – ये सभी महारथी।

टिप्पणी : महारथी एक योद्धा (धनुर्धर), महान रथ-सवार, है जो अकेले ही दस हजार विरोधियों (धनुर्धरों) से लड़ सकता है; । रथ-सवार योद्धाओं की क्रमवार विभिन्न श्रेणियां हैं - रथी, महारथी, अतिरथी।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम । नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ १-७॥

1.7. हे ब्राह्मण–श्रेष्ठ, अब हमारे पक्ष में जो विशेष (महत्वपूर्ण योद्धा) हैं उन्हें जान लीजिये । मेरी सेना के जो नायक हैं उन्हें आपकी जानकारी के लिये कहता हूँ ।

टिप्पणी: द्विज का अर्थ है दो बार जन्म लेने वाला, जो ऊपरी तीन वर्णों के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला शब्द है क्योंकि वे जीवन के दो समारोहों से गुजरते हैं (एक बार शारीरिक जन्म और फिर यज्ञोपवीत (जनेऊ) के समय आध्यात्मिक जन्म)। इसलिए, द्विजोत्तम का अर्थ है एक ब्राह्मण (तीनों में सर्वोच्च) और यहां द्रोण के लिए उपयोग किया गया है, लेकिन द्विज शब्द न तो वेदों में पाया जाता है और न ही उपनिषदों में, जो यह दर्शाता है कि गीता में वेदों और उपनिषदों के अतिरिक्त भी कुछ है।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः । अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ १-८॥ (सौमदत्तिर्जयद्रथः)

1.8. आप (अर्थात् द्रोण) और भीष्म और कर्ण और संग्राम–विजयी कृप; अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र (भूरिश्रवा) भी ।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः । नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ १-९॥

1.9. और मेरे लिये जीवन त्याग देने को तत्पर अन्य बहुत से शूरवीर, अनेक शस्त्रों के उपयोग में सक्षम और सब युद्ध कला में प्रवीण ।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् । पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १-१०॥

1.10. भीष्म द्वारा रक्षित हमारी वह सेना असीमित (अथवा कम) है व भीम द्वारा रक्षित इनकी यह सेना सीमित (अथवा पर्याप्त) है ।

टिप्पणी : कुछ टिप्पणीकारों जैसे आनंदगिरि, तेलंग और तिलक द्वारा ‘अपर्याप्त’ की व्याख्या 'असीमित' और ‘पर्याप्त’ की 'सीमित' के रूप में की गई है (यह दर्शाता है कि दुर्योधन भीष्म के नेतृत्व वाली अपनी सेना की प्रशंसा कर रहा है) । लेकिन कुछ जैसे रामानुज, श्रीधर, एनी बेसेंट, थॉमसन और डेवीस ने इनकी व्याख्या क्रमशः 'आवश्यकता से कम' और 'आवश्यकता के अनुरूप' के रूप में की है (जो दुर्योधन की निराशा को दर्शाता है क्योंकि उसे पांडवों के प्रति भीष्म के स्नेह के कारण भीष्म की अविभाजित निष्ठा पर संदेह था। तिलक का मानना है कि यही श्लोक भीष्म पर्व 6-51-6 (अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् । पर्याप्तमिदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥) में दुर्योधन ने प्रसन्न मन से कहा है, जो पहले अर्थ के पक्ष में जाता है । परन्तु यहाँ अगले दो श्लोक बाद वाले अर्थ का समर्थन करते प्रतीत होते हैं।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः । भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ १-११॥

1.11. अतएव सब मोर्चों पर अपने यथा भाग में स्थित रहते हुए आप सब केवल भीष्म की ही रक्षा करें ।

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः । सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १-१२॥

1.12. उसे (उदास हुए दुर्योधन को) प्रसन्न करने हेतु वृद्ध कौरव, प्रतापी पितामह (भीष्म) ने सिंह जैसी उच्च दहाड़ के साथ शंख बजाया।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः । सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १-१३॥

1.13. तत्पश्चात शंख, भेरी (नगाड़े), पणव (ढोल), आनक (मृदंग) और गोमुख (गोमुख की आकृति का शंख) सब एक साथ बज उठे। वह शब्द (आवाज) बड़ा कोलाहलपूर्ण (भीषण) हो गया।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ । माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १-१४॥

1.14. इसके बाद सफेद घोड़ों से युक्त बड़े (उत्तम) रथ में सवार माधव (कृष्ण) और पाण्डव (अर्जुन) ने भी अलौकिक शंख बजाये।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः । पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १-१५॥

1.15. हृषीकेश ने पाञ्चजन्य, अर्जुन ने देवदत्त व भीमकर्मा (भयानक कर्म वाले) वृकोदर (भीम) ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १-१६॥

1.16. कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय (और) नकुल तथा सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक शंख बजाये।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः । धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १-१७॥

1.17. श्रेष्ठ धनुष वाले काशिराज और महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न तथा विराट और अजेय सात्यकि।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते । सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १-१८॥

1.18. द्रुपद व द्रौपदी के पुत्रों और महाबाहु सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु) ने, हे पृथ्वीपति (राजन्), सब ओर से अलग-अलग शंख बजाये।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् । नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन् ॥ १-१९॥ or लो व्यनु

1.19. उस आवाज ने आकाश के साथ पृथ्वी को भी शोर से गुंजाते हुए धार्तराष्ट्रों (धृतराष्ट्र के पक्ष वालों) के हृदय विदीर्ण कर दिये।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः । प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ १-२०॥

1.20. इसके बाद कपिध्वज पाण्डव (अर्जुन) ने मोर्चा बाँधे हुए धार्तराष्ट्रों को देखकर, शस्त्र चलने की तैयारी के समय, धनुष उठाकर;

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा ।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते । सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ १-२१॥

1.21. तब, हे महिपति (राजन्), हृषीकेश से यह वाक्य कहा — "हे अच्युत, मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिये" ।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् । कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ १-२२॥

1.22. जब तक कि मैं यहाँ डटे हुए इन युद्ध के अभिलाषियों को देख (न) लूँ कि मुझे इस रण रूपी उद्यम में किन से युद्ध करना है ।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः । धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ १-२३॥

1.23. मैं इन युद्ध करने वालों को देख लूँ जो युद्ध में दुर्बुद्धि धार्तराष्ट्र (दुर्योधन) को प्रसन्न की इच्छा से यहाँ आए हैं ।

सञ्जय उवाच । संजय ने कहा ।
एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत । सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ १-२४॥

1.24. हे भारत (धृतराष्ट्र), गुडाकेश द्वारा इस प्रकार कहे हुए (कहने पर) हृषीकेश ने, दोनों सेनाओं के मध्य उत्तम रथ को खड़ा करके;

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् । उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ १-२५॥

1.25. भीष्म, द्रोण व सम्पूर्ण राजाओं के सामने, कहा – "हे पार्थ, इन एकत्रित हुए कौरवों को देखो" ।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् । आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ १-२६॥

1.26. पार्थ ने वहां स्थित ताऊ-चाचों, दादों-परदादों, गुरुओं, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों तथा मित्रों को देखा ।

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि । तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ १-२७॥

1.27. ससुरों और सुहृदों को भी उन दोनों ही सेनाओं में । उन उपस्थित सम्पूर्ण बन्धुओं को देखकर वह कुन्तीपुत्र;

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा ।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् । दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ १-२८॥

1.28. करुणा से युक्त होकर शोक करते हुए यह बोला – हे कृष्ण, युद्ध की अभिलाषा से इस स्वजन समुदाय को यहाँ उपस्थित देखकर;

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति । वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ १-२९॥

1.29. मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं और मुख सूख रहा है; तथा मेरे शरीर में कम्पन एवं रोमांच हो रहा है ।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते । न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ १-३०॥

1.30. हाथ से गाण्डीव फिसल रहा है और त्वचा भी जल रही है, तथा मै खड़ा रहने में समर्थ नहीं हूँ और मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव । न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ १-३१॥

1.31. लक्षणों को भी, हे केशव, मैं विपरीत ही देख रहा हूँ (तथा) न ही युद्ध में स्वजनों को मारकर (मारने में) कल्याण देखता हूँ ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च । किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥१-३२॥

1.32. हे कृष्ण, मैं विजय नहीं चाहता हूँ, न ही राज्य तथा सुखों को । हे गोविन्द, ऐसे राज्य का क्या प्रयोजन और किसके लिए भोग-विलास अथवा यहाँ तक कि जीवन ?

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च । त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ १-३३॥

1.33. जिनके लिये हम राज्य, भोग और सुखों को चाहते हैं, वे (ही) प्राणों और धन को त्याग कर यहाँ युद्ध में उपस्थित (खड़े) हैं ।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः । मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ १-३४॥

1.34. आचार्य, पितर (ताऊ-चाचा), पुत्र और उसी प्रकार पितामह, मामे, ससुर, पौत्र, साले तथा सम्बन्धी लोग;

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन । अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ १-३५॥

1.35. इन्हें, हे मधुसूदन, मैं स्वयं मारा जाकर भी, तीनों लोकों के राज्य के लिये भी, मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वी के लिये तो क्या कहना?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन । पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ १-३६॥

1.36. हे जनार्दन, धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर क्या लाभ (सुख) होगा ? इन आततायियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा ।

टिप्पणी : यहाँ कौरवों को आततायी कहा गया है। वशिष्ठ स्मृति 3.19 में छ: प्रकार के आततायी कहे गए हैं (अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः॥) - आगजनी करने वाला, जहर देने वाला, हत्या के लिए हथियार चलाने वाला, दूसरे के धन का लुटेरा, दूसरे की भूमि का लुटेरा, दूसरे की पत्नी का अपहरणकर्ता । भागवत पुराण 1.7.53 के अनुसार (आततायी वधार्हण:। मनुस्मृति 8.351 के अनुसार भी 'नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन'। परन्तु अर्जुन को उन्हें मारने में पाप दिखता है, शायद इसलिए कि वे उसके स्वजन हैं !

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् । स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ १-३७॥

1.37. अतएव अपने बान्धव, धृतराष्ट्र के पुत्रों, को मारने के लिये हम योग्य नहीं हैं (इन्हें मारना हमारे लिये उचित नहीं है)। हे माधव, अपने ही परिवार को मारकर हम कैसे सुखी होंगे ?

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः । कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ १-३८॥

1.38. यद्यपि लोभ के वश में हुए चित्त वाले ये (लोग) कुल के नाश में दोष और मित्रद्रोह में पाप नहीं देखते।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् । कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ १-३९॥

1.39. हे जनार्दन, कुल के नाश में दोष देखने (जानने) वाले हम (लोगों) को इस पाप से हटने के लिये क्यों नहीं जानना (समझना) चाहिये ?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः । धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ १-४०॥

1.40. कुल के नाश से सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्म के नाश से सम्पूर्ण कुल पर अधर्म (पाप) का प्रभाव अत्यधिक बढ़ जाता है ।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः । स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥ १-४१॥

1.41. हे कृष्ण, अधर्म (पाप) का प्रभाव बढ़ जाने से कुल की स्त्रियां दूषित हो जाती हैं (और) हे वार्ष्णेय, स्त्रियों के दूषित हो जाने पर वर्णसङ्कर (संतान) उत्पन्न होती है।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च । पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ १-४२॥

1.42. वर्णसंकर कुलघातियों और कुल के लिये नरक जैसे होते हैं । लुप्त हुई पिण्डोदक क्रिया वाले (श्राद्ध और तर्पण से वंचित) इनके पितर भी अधो गति को प्राप्त होते हैं ।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः । उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ १-४३॥

1.43. कुलघातियों और वर्णसंकरकारकों के इन दोषों से सनातन जाति-धर्म और कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं ।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन । नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ १-४४॥ or नरकेऽनियतं

1.44. हे जनार्दन, कुल-धर्म नष्ट हुए मनुष्यों का सदा के लिए (अनिश्चित काल तक) नरक में वास होता है, ऐसा हमने सुना है।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् । यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ १-४५॥

1.45. हा, शोक ! हम महान् पाप करने में लगे हैं, जो राज्य के सुख के लोभ से स्वजनों को मारने के लिये उद्यत हैं ।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः । धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ १-४६॥ or प्रियतरं

1.46. (अतः) यदि सामना न करने वाले मुझ शस्त्ररहित को शस्त्रधारी धृतराष्ट्र-पुत्र रण में मार डालें तो वह (भी) मेरे लिए श्रेष्ठ होगा ।

सञ्जय उवाच । संजय ने कहा ।
एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत् । विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ १-४७॥

1.47. ऐसा कहकर, रणभूमि में शोक से उद्विग्न मन वाला अर्जुन बाण सहित धनुष को त्याग कर रथ के पिछले भाग में बैठ गया ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

साङ्ख्ययोगः

सञ्जय उवाच । संजय ने कहा।
तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् । विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ २-१॥

2.1. इस प्रकार करुणा से व्याप्त, आँसुओं से पूर्ण व्याकुल नेत्रों वाले, शोकयुक्त उसे (अर्जुन को) मधुसूदन ने यह वचन कहा।

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान् ने कहा।
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् । अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २-२॥

2.2. हे अर्जुन, तुम्हे (इस) असमय में यह कायरता (निराशा) कहाँ से आयी ? जो न श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरित है, न स्वर्ग को देने वाली है और न कीर्ति को करने (दिलाने) वाली है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते । क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ २-३॥

2.3. हे पार्थ, नपुंसकता को मत प्राप्त हो, यह तुम्हारे लिये उचित नहीं । हे परंतप, हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर उठो।

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा।
कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन । इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ २-४॥

2.4. हे मधुसूदन, हे अरिसूदन, मैं रणभूमि में किस प्रकार बाणों से भीष्म और द्रोण के विरुद्ध लडूंगा, जो पूजा करने के योग्य हैं ?

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ २-५॥

2.5. वास्तव में (इन) महानुभाव गुरुजनों को न मारकर इस लोक में भिक्षा का अन्न खाना भी उचित है; परन्तु अर्थ और काम हेतु गुरुजनों को मारकर यहाँ रक्त से सने हुए भोगों को ही भोगूँगा।

टिप्पणी : 'अर्थकामान्' का अर्थ 'धनलोलुप' (रामानुजाचार्य), 'शुभचिंतक' (एनी बेसेन्ट), 'मेरा धन और आनन्द' (मध्वाचार्य) आदि भी किया गया है।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ २-६॥

2.6. हम तो यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये कौन सा श्रेष्ठ (क्या उचित) है – यह कि हम उन्हें जीतें या कि वे हमें जीतें। हमारे सामने खड़े जिन, धृतराष्ट्र के पुत्रों, को मारकर हम भी जीना नहीं चाहते।

टिप्पणी : आनंदगिरि के अनुसार 'क्या उचित है' का अर्थ है 'भिक्षा मांगने और युद्ध करने में से किसे चुनें'।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ २-७॥

2.7. दीनता के दोष से ग्रसित (अपहत) स्वभाव वाला, धर्म के विषय में मोहितचित्त हुआ, मैं आपसे पूछता हूँ। जो उचित हो, वह मेरे लिये निश्चित करके कहिये; मैं आपका शिष्य हूँ, मुझ आपके शरणागत हुए को समझाइये (शिक्षा दीजिये)।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ २-८॥

2.8. निश्चित ही मैं वह नहीं देख पा रहा हूँ जो, अप्रतिम धन-धान्य और भूमि पर राज्य और देवताओं पर आधिपत्य (स्वामित्व) प्राप्त करके भी, मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले शोक को दूर कर सके।

सञ्जय उवाच । संजय ने कहा।
एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप । न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ २-९॥

2.9. हे परन्तप (धृतराष्ट्र), हृषीकेश के प्रति ऐसा कहकर, गुडाकेश (अर्जुन) फिर गोविन्द से 'युद्ध नहीं करूँगा' यह कहकर (स्पष्ट) चुप हो गया।

टिप्पणी: शङ्कराचार्य का भाष्य गीता के श्लोक 2.10 से आरम्भ होता है क्योंकि यहीं से इसके दार्शनिक सन्देश का आरंभ होता है।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत । सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ २-१०॥

2.10. हे भारत (धृतराष्ट्र), हृषीकेश दोनों सेनाओं के मध्य शोकाकुल (शोक करते) हुए उस अर्जुन को हँसते हुए से यह बोले।

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान् ने कहा।
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे । गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ २-११॥

2.11. तुम शोक न करने योग्य के लिये शोक कर रहे हो और बुद्धिमानों के (जैसे) वचन बोल रहे हो; बुद्धिमान मनुष्य गए हुओं (जिनके प्राण चले गये हैं), न ही न गए हुओं (जिनके प्राण नहीं गये हैं) के लिये शोक नहीं करते।

टिप्पणी: रामानुजाचार्य के अनुसार 'गतासून्' का अर्थ 'शरीर' और 'अगतासून्' का अर्थ 'आत्मा' है। मध्वाचार्य के अनुसार 'प्रज्ञावादान्' का अर्थ 'बुद्धिमानों के विचारों के विरूद्ध' है, और नीलकंठ के अनुसार 'जो आत्मा को शरीर से भिन्न जानकर 'नरके नियतं वासो', पतन्ति पितरो ह्येषां' आदि कहते हैं परन्तु प्रज्ञावान नहीं हैं'।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः । न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ २-१२॥

2.12. न तो ऐसा है कि मैं कभी नहीं था या तुम नहीं थे या ये राजाजन नहीं थे; और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा । तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ २-१३॥

2.13. जैसे देही (जीवात्मा) को इस देह में बचपन, जवानी और वृद्धावस्था आती है, वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति (होती है); उससे धीर पुरुष मोहित (भ्रमित) नहीं होता।

संदर्भ: शब्दशः विष्णुस्मृति 20.49.

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः । आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ २-१४॥

2.14. हे कौन्तेय, इन्द्रिय-विषयों के स्पर्श (संपर्क) तो सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख देने वाले हैं। ये आने-जाने वाले और अनित्य (विनाशशील) हैं। हे भारत, इन्हे (बिना शिकायत किये) सहन करो।

टिप्पणी : शङ्कराचार्य आदि के अनुसार मात्रा का अर्थ 'शरीर के अंग', हिल के अनुसार 'इंद्रियां (स्पर्श आदि)', अभिनवगुप्त आदि के अनुसार 'पदार्थ - जिसे मापा जा सके' है।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ । समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ २-१५॥

2.15. क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ, दुःख-सुख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये (इन्द्रिय-विषयों के संयोग) व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष के योग्य होता है।

संदर्भ: मार्कण्डेय पुराण 39.65: शीतोष्णादिभिरत्युग्रैर्यस्य बाधा न विद्यते। न भीतिमेति चान्येभ्यस्तस्य सिद्धिरूपस्थिता।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ २-१६॥

2.16. असत् की सत्ता नहीं होती और सत् का अभाव नहीं होता। इन दोनों का ही निष्कर्ष तत्त्व-ज्ञानियों द्वारा समझ (जान) लिया गया है।

टिप्पणी 1: यह बहुत ही महत्वपूर्ण श्लोक है। वैकल्पिक रूप से इसका अनुवाद ऐसे भी किया जा सकता है – 'अव्यक्त (असत्) ऐसा नहीं हो सकता कि मानो वह है और व्यक्त (सत्) ऐसा नहीं हो सकता कि मानो वह नहीं है; इस प्रकार, तत्त्व (सत्य) के द्रष्टाओं ने 'है' और 'नहीं है' के मध्य की विभाजन रेखा को समझ लिया है। शङ्कराचार्य के अनुसार

'असत्' 'देह' है और 'सत्' 'देही' है। रामानुजाचार्य के अनुसार क्रमशः 'देह' और 'आत्मा'; तथा मध्वाचार्य के अनुसार 'जैसे असत्कर्म से सुख नहीं मिलता, वैसे ही सत्कर्म से दुःख नहीं मिलता' अथवा 'प्रकृति और ब्रह्म नित्य (अनादि और अनंत) हैं'।

टिप्पणी 2: 'अन्त' का अर्थ 'निष्कर्ष' है, जैसे सिद्धान्त और वेदान्त।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् । विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ २-१७॥

2.17. तुम उसे अविनाशी जानो, जिससे यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है । इस अविनाशी का विनाश करने में कोई समर्थ नहीं है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः । अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ २-१८॥

2.18. नित्यस्वरूप, अविनाशी, अप्रमेय शरीरी (जीवात्मा) के ये शरीर नाशवान कहे गये हैं। अतः हे भारत (भरतवंशी), युद्ध करो।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ २-१९॥

2.19. जो इसे मारने वाला समझता है तथा वह जो इसे मारा हुआ मानता है, वे दोनों नहीं जानते (कि) यह न मारता है न मारा जाता है।

संदर्भ : कठोपनिषद् 1.2.19: हन्ता चेन्मन्यते हन्तुँ हतश्चेन्मन्यते हतं । उभौ तौ न विजानीतो नायँ हन्ति न हन्यते ॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः । (अथवा भूत्वा अभविता जैसे शङ्कराचार्य)
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २-२०॥

2.20. यह न कभी जन्मता है, न मरता है तथा न (एक बार) उत्पन्न होकर फिर होने वाला है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है; (यह) शरीर के मारे जाने पर भी नहीं मारा जाता।

संदर्भ : कठोपनिषद् 1.2.18: न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ छांदोग्य उपनिषद् 8.1.5: नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् । कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २-२१॥

2.21. हे पार्थ, जो मनुष्य इसे अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २-२२॥

2.22. जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये ग्रहण करता है, वैसे ही देही (शरीरी, जीवात्मा) पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये में प्रवेश करता है।

संदर्भ : विष्णुस्मृति 20.50: गृह्णातीह यथा वस्त्रं त्यक्त्वा पूर्वधृतं नरः। गृह्णात्येवं नवं देही देहं कर्मनिबन्धनम्। कठोपनिषद् 1.1.6: सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २-२३॥

2.23. इसे शस्त्र नहीं काटते (या, काट सकते), इसे आग नहीं जलाती, और न ही इसे जल गीला करता है, न वायु सुखाता है।

संदर्भ: शब्दशः विष्णु-स्मृति 20.51.

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २-२४॥

2.24. यह अच्छेद्य है, यह अदाह्य है, अक्लेद्य और अशोष्य भी है। यह नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर स्वभाव वाला, अचल और सनातन है।

संदर्भ: विष्णु-स्मृति 20.52: अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सतगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।

टिप्पणी: नीलकंठ द्वारा 'सनातन' की व्याख्या 'स्थान, समय और वस्तुतः की सीमा से बाहर' और शङ्कराचार्य द्वारा ' चिरंतन, किसी कारण से नहीं उत्पन्न हुआ' के रूप में की गई है। 'स्थाणु' की व्याख्या श्रीधर ने 'स्थिर स्वभाव वाला अर्थात् रूपांतर को प्राप्त न होने वाला' और 'अचल' की 'पिछले स्वरूप को न छोड़ने वाला' के रूप में की है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते। तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २-२५॥

2.25. कहा जाता है (कि) यह अव्यक्त है, यह अचिन्त्य है, यह विकाररहित है; अतः इसे ऐसा जानकर तुम्हें (इसका) शोक नहीं करना चाहिए।

संदर्भ: विष्णु-स्मृति 20.53: अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते। तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हथ।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्। तथापि त्वं महाबाहो नैवं (or नैनं) शोचितुमर्हसि ॥ २-२६॥

2.26. किन्तु यदि तुम इसे सदा जन्मने वाला तथा सदा मरने वाला मानते हो, तो भी हे महाबाहो, तुम्हे इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिए।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २-२७॥

2.27. क्योंकि जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का जन्म (अर्थात पुनर्जन्म) निश्चित है; इसलिए (एक) अपरिहार्य (उपायरहित घटना) के लिए तुम्हे शोक नहीं करना चाहिए।

संदर्भ: विष्णु-स्मृति 20.29: जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च । अर्थे दुष्परिहार्येऽर्थे अस्मिन् नास्ति लोके सहायता।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत । अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २-२८॥

2.28. हे भारत (भरतवंशी अर्जुन), प्राणी आदि में (जन्म से पहले) अप्रकट होते हैं, मध्य (जीवन काल) में प्रकट होते हैं और मरने के बाद फिर अप्रकट हो जाते हैं, तब (ऐसी स्थिति में) शोक क्यों करना ?

संदर्भ: शब्दशः.विष्णु-स्मृति 20.48.

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः । आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २-२९॥

2.29. कोई इसे आश्चर्य की भाँति देखता है, वैसे ही कोई अन्य इसका आश्चर्य की भाँति वर्णन करता है तथा कोई अन्य इसे आश्चर्य की भाँति सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानता।

सन्दर्भ : हिल ने कठोपनिषद् 1.2.7 (आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः) का सन्दर्भ देते हुए श्लोक दूसरा का अर्थ ऐसे किया गया है - वह आश्चर्यजनक (अद्‌भुत) है जो उसे देखता है वैसे ही कोई अन्य आश्चर्यजनक है जो इसका वर्णन करता है, तथा कोई अन्य आश्चर्यजनक इसे सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानता।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत । तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २-३०॥

2.30. हे भारत (अर्जुन), यह देही (जीवात्मा) सब के शरीरों में नित्य (और) अवध्य (न मारा जा सकने वाला) है। इसलिए (इन) सब प्राणियों के लिये तुम्हे शोक नहीं करना चाहिए।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि । धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ २-३१॥

2.31. अपने धर्म को देखते हुए भी तुम्हे (अपने उद्देश्य से) डगमगाना नहीं चाहिए, क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्म के लिए युद्ध से उचित दूसरा कुछ नहीं है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् । सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ २-३२॥

2.32. हे पार्थ, भाग्यवान् क्षत्रिय (ही) अपने आप प्राप्त हुए, स्वर्ग के खुले हुए द्वार रूप इस प्रकार के युद्ध को पाते हैं।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि । ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ २-३३॥

2.33. इसलिए यदि तुम इस धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करोगे तो अपने धर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगे।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् । सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ २-३४॥

2.34. तथा लोग भी तुम्हारी अनंत अपकीर्ति का कथन (की बात) करेंगे, और माननीय पुरुष के लिये अपकीर्ति मरण से बढ़कर है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः । येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ २-३५॥

2.35. महारथी तुम्हे भय के कारण युद्ध से भागा हुआ मानेंगे और उनमें तुम पहले सम्मानित हुआ होकर (अब) लघुता को प्राप्त होवोगे।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः । निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ २-३६॥

2.36. तुम्हारे शत्रु तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए न कहने योग्य वचन कहेंगे; उससे अधिक दुःखदायी और क्या होगा ?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् । तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ २-३७॥

2.37. यदि मारे गए तो स्वर्ग को प्राप्त होवोगे और जीतने पर पृथ्वी का राज्य भोगोगे । अतः, हे कौन्तेय, युद्ध का निश्चय करके उठो।

टिप्पणी : श्लोक 33-37 सांसारिक लाभ-हानि हेतु कर्म का प्रतिपादन करते हैं जो गीता की सामान्य भावना (लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में समभाव) के विपरीत लगता है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ । ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ २-३८॥

2.38. सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान समझकर, तब युद्ध के लिये तैयार हो जाओ; इस प्रकार तुम पाप को नहीं प्राप्त होवोगे।

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु । बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ २-३९॥

2.39. हे पार्थ, तुम्हे कहा गया यह ज्ञान साङ्ख्य का (से सम्बंधित) है, अब तुम योग का ज्ञान सुनो, जिस बुद्धि (ज्ञान) से युक्त हुए तुम कर्मों के बन्धन को त्याग दोगे (से मुक्त हो जाओगे) ।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते । स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ २-४०॥

2.40. यहाँ (मोक्ष के मार्ग में) अभिक्रम (प्रयत्न) का नाश नहीं होता और न कोई बाधा होती है। इस धर्म (ज्ञान, भक्ति, करुणा) का थोड़ा सा भी भाग (जन्म-मृत्युरूप) महान् भय से रक्षा करता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन । बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ २-४१॥

2.41. हे कुरुनन्दन, यहाँ कृतसंकल्प बुद्धि एक (केंद्रित) होती है; किन्तु अस्थिर विचार वालों की बुद्धियाँ बहु-शाखा और अनन्त होती हैं।

टिप्पणी: अगले कुछ श्लोक कर्मकांड के विरोध में हैं। श्लोक 42 से 44 जुड़े हुए हैं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः । वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ २-४२॥

2.42. हे पार्थ, अविवेकीजन ऐसी पुष्पित (शोभायुक्त) बातें कहा करते हैं, जो वेदों के शब्द (कर्मकाण्ड) में अनुरक्त "अन्य कुछ नहीं है" ऐसा बोलने वाले हैं।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् । क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ २-४३॥

2.43. भोगों में तन्मय, स्वर्ग के इच्छुक, जन्मरूप कर्मफल देने वाली, भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति की बहुत सी विशेष क्रियाओं द्वारा;

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् । व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ २-४४॥

2.44. भोग व ऐश्वर्य में प्रसक्तों, जिनका चित्त हर लिया गया है, की बुद्धि कृतसंकल्प होकर (भी) समाधि (एक बिंदु) में स्थित नहीं होती।

संदर्भ : मुण्डकोपनिषद् 1.2.10: इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। ईशोपनिषद् 9: अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्याम् उपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥ कठोपनिषद् 1.2.5: अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन । निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ २-४५॥

2.45. हे अर्जुन, वेद त्रिगुणात्मक (तीनों गुणों का प्रतिपादन करने वाले) हैं; तुम त्रिगुण रहित बनो – (हर्ष-शोकादि) द्वन्द्वों से रहित, नित्य सत्त्व (शुद्धि) में स्थित, योग-क्षेम से मुक्त, स्वाधीन अन्तःकरण वाला (अप्रमादी – श्रीधर)।

टिप्पणी : शङ्कराचार्य के अनुसार यहाँ योग का अर्थ 'अप्राप्त की प्राप्ति' और क्षेम का अर्थ 'प्राप्त की रक्षा' है। (गीता 9.22 भी देखें)।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके । तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ २-४६॥

2.46. जितना प्रयोजन सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के समक्ष (प्राप्त हो जाने पर) छोटे जलाशय में रह जाता है, उतना ही (प्रयोजन) तत्व-वेत्ता ब्राह्मण का समस्त वेदों (के कर्मकाण्ड भाग) में रह जाता है।

टिप्पणी : इसका दूसरा तात्पर्य तेलंग (इसी तरह हिल) के अनुसार यह है – 'एक प्रशिक्षित ब्राह्मण के लिए सभी वेदों में उतनी ही उपयोगिता है जितनी पानी के एक जलाशय में जिसमें चारों ओर से पानी भरता है। (जिस प्रकार एक जलाशय पीने, स्नान करने आदि जैसी विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करता है, उसी प्रकार वेद विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए संस्कार सिखाते हैं जैसे स्वर्ग प्राप्त करना, शत्रुओं को मारना)। अंतर मामूली है, लेकिन तिलक के अनुसार यह 'सर्वतः संप्लुतोदके' की व्याख्या पर आधारित है, जिसका अर्थ कुछ लोगों के लिए 'सब तरफ से भरा हुआ' और दूसरों के लिए 'जब हर तरफ बाढ़ हो' है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ २-४७॥

2.47. तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है, (उसके) फलों में कभी नहीं। न कर्मफल में तुम्हारा हेतु (इच्छा) हो, न ही अकर्म में आसक्ति हो (होनी चाहिए)।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय। सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ २-४८॥

2.48. हे धनंजय, योग में स्थित हुए, आसक्ति को त्यागकर, सिद्धि (सफलता) और असिद्धि (असफलता) में समान भाव होकर कर्म करो। (क्योंकि) समत्व (समभाव) (ही) योग कहलाता है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय। बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ २-४९॥

2.49. हे धनंजय, बुद्धियोग से कर्म अत्यधिक ही निम्न है। बुद्धियोग की शरण ग्रहण करो (क्योंकि) (कर्मों के) फल के इच्छुक दीन (दयनीय) होते हैं।

टिप्पणी : कृपण के अर्थ के लिए बृहदारण्यक उपनिषद् 3.8.10: यो वा एतदक्शरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः। और भागवत पुराण 11.19.44: कृपणो योऽजितेन्द्रिय:।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ २-५०॥

2.50. बुद्धियुक्त मनुष्य इस संसार में सुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप) दोनों से मुक्त हो जाता है। इसलिए तुम योग में लग जाओ। कर्म में कुशलता योग है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः। जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ २-५१॥

2.51. बुद्धियुक्त मनीषी (ज्ञानी) कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर जन्म-रूप बंधन से मुक्त होकर दुखों से परे की अवस्था को पहुँच जाते हैं।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ २-५२॥

2.52. जब तुम्हारी बुद्धि मोह की दलदल को पार कर जाएगी, तब तुम सुनने योग्य और सुने हुए से वैराग्य (उदासीनता) प्राप्त कर लोगे।

टिप्पणी : 'श्रोतव्यस्य श्रुतस्य' का अर्थ हिल के अनुसार 'वेदों का कर्मकाण्ड भाग', रामानुजाचार्य के अनुसार 'मुझ से', अभिनवगुप्त के अनुसार 'शास्त्रों का गलत अध्ययन', श्रीधराचार्य के अनुसार 'पदार्थों से संबंधित' और आनन्दगिरि के अनुसार 'अध्यात्म शास्त्र से अतिरिक्त शास्त्र' है।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ २-५३॥

2.53. जब वैदिक वचनों से भ्रमित (विचलित) हुई तुम्हारी बुद्धि, समाधि में अचल और स्थिर ठहर जाएगी, तब तुम योग को प्राप्त होवोगे।

अर्जुन उवाच। अर्जुन ने कहा।
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव। स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ २-५४॥

2.54. हे केशव, समाधि में स्थित स्थिरबुद्धि (मनुष्य) का क्या लक्षण है? स्थिरबुद्धि कैसे बोलता है, कैसे बैठता और कैसे चलता है?

श्रीभगवानुवाच। श्री भगवान् ने कहा।
प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ २-५५॥

2.55. हे अर्जुन, जब कोई मन में आयी हुई सम्पूर्ण कामनाओं (वासनाओं) को त्याग देता है; आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

सन्दर्भ : कठोपनिषद् 2.3.14: यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ २-५६॥

2.56. दुःखों में जिसका मन उद्विग्न (व्याकुल) नहीं होता, सुखों में स्पृहा (इच्छा) रहित रहता है; जो राग, भय (और) क्रोध से परे है, (वह) स्थिर बुद्धि वाला मुनि कहा जाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ २-५७॥

2.57. जो सर्वत्र स्नेहरहित है, इस शुभ या उस अशुभ (वस्तु अथवा समाचार) को पा कर न प्रसन्न होता है, न द्वेष करता है; उसकी बुद्धि स्थिर है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ २-५८॥

2.58. और जब यह (मनुष्य) इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से हटा लेता है जैसे कछुवा सब ओर से अपने अंगों को (समेट लेता है), (तब) उसकी बुद्धि स्थिर (समझी जाती) है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः । रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ २-५९॥

2.59. निराहार (संयमी) मनुष्य के विषय छूट जाते हैं, (उनमें) आसक्ति नहीं (छूटती)। परन्तु परमात्मा को देख (जान) लेने पर उसकी आसक्ति (भी) छूट जाती है।

टिप्पणी: अस्वीकार किए जाने पर इंद्रिय-विषय (विषय-वस्तुएं) दूर हो जाती हैं परन्तु उनके लिए इच्छा बनी रहती है और तब तक दूर नहीं होती जब तक कि ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो जाती।

सन्दर्भ: योगवाशिष्ठ 2.2.9: ज्ञेयं यावन्न विज्ञातं तावत्तावन्न जायते । विषयेष्वरतिर्जन्तोर्मरुभूमौ लता यथा ॥ जिस प्रकार बंजर मिट्टी में कोई पौधा नहीं उगता, उसी प्रकार जब तक कोई ज्ञेय को न जान ले, तब तक इंद्रिय-विषयों के प्रति कोई अरुचि पैदा नहीं होती।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः । इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ २-६०॥

2.60. हे कौन्तेय, प्रमथन स्वभाव वाली (कष्टकर) इन्द्रियाँ प्रयत्नरत बुद्धिमान मनुष्य के भी मन को बलपूर्वक हर लेती हैं।

संदर्भ: भागवत पुराण 9.19.17: बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।

टिप्पणी: 'यततो' का अर्थ 'इंद्रियों के नियंत्रण में प्रयत्नरत' (शंकर, तिलक, शास्त्री), 'मन के नियंत्रण में प्रयत्नरत' (अभिनवगुप्त), 'मोक्ष के लिए प्रयत्नरत' (श्रीधर, तेलंग), 'इंद्रिय-विषयों में बुराई देखने का प्रयत्न' (आनदगिरि, मधुसूदन) आदि के रूप में किया जाता है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः (तत्परः) । वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ २-६१॥

2.61. उन सबको वश में करके योगी हुआ (मनुष्य) मेरे परायण (अथवा, सावधान) होकर बैठे। क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वश में होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ २-६२॥

2.62. विषयों का चिन्तन करने वाले मनुष्य की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से (उन विषयों की) कामना उत्पन्न होती है (और) कामना (में विघ्न पड़ने, पूर्ण न होने) से क्रोध उत्पन्न होता है।

संदर्भ: मार्कण्डेय पुराण 3.71: प्रवर्तन्ते दुरात्मानो मनुष्य स्मृति नाशकाः रागात् क्रोधः प्रभवति क्रोधात् लोभोऽभिजायते।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ २-६३॥

2.63. क्रोध से मूढ़भाव उत्पन्न होता है, मूढ़भाव से स्मृति-भ्रम होता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि (विवेक-शक्ति) का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने से (वह मनुष्य) नष्ट हो जाता है।

संदर्भ: मार्कण्डेय पुराण 3.72: लोभाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् । आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ २-६४॥ or वियुक्तैस्तु

2.64. परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरण वाला, अपने वश में की हुई, राग-द्वेष से मुक्त, इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरण करता हुआ प्रसाद (शांति की अवस्था) को प्राप्त होता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते । प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ २-६५॥

2.65. शांति की अवस्था होने पर सम्पूर्ण दुःखों का ह्रास (नाश) हो जाता है; प्रसन्नचित्त (मनुष्य) की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना । न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ २-६६॥

2.66. योग में संयमित (प्रवीण) न हुए (मनुष्य) में बुद्धि (विवेक-शक्ति) नहीं होती, न ही अयुक्त (असंयमित) (मनुष्य) की (में) भावना (ध्यान की एकाग्रता) होती है और भावनाहीन को शान्ति नहीं; (और) शान्ति-विहीन को सुख कहां से (मिल सकता है)?

टिप्पणी: 'भावना' का अर्थ श्रीधर के अनुसार 'मन की एकाग्रता रूपी ध्यान', तिलक के अनुसार 'विवेक की स्थिरता', तेलंग के अनुसार 'ज्ञान की प्राप्ति में लगन' है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते । तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ २-६७॥

2.67. क्योंकि (विषयों में) विचरती हुई इन्द्रियों में से मन जिसका अनुसरण करता है, वह (ही) उस (अयुक्त मनुष्य) की बुद्धि को हर लेती है (ठीक वैसे ही) जैसे जल में (चलने वाली) नाव को वायु (हर लेती है)।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ २-६८॥

2.68. अतः हे महाबाहो, जिसकी इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से सब प्रकार से निग्रह (संयमित, अवरुद्ध) की हुई हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी । यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ २-६९॥

2.69. जो सब प्राणियों के लिये रात्रि है, उसमें संयमी जागता है। जिस में प्राणी जागते हैं, वह मुनियों को रात्रि (के समान) दिखती है।

टिप्पणी: एक आत्म-संयमी मुनि उन वस्तुओं की लालसा नहीं करता जिन्हें अज्ञानी पाना चाहते हैं। तेलंग ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है, 'आध्यात्मिक मामले आम लोगों के लिए रात के समान अंधकारमय हैं, जबकि वे सभी सांसारिक गतिविधियों में जागृत रहते हैं। मुनि के साथ मामला इसके विपरीत होता है ।'

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ २-७०॥

2.70. जैसे जल सब ओर से परिपूर्ण अविचलित स्थित समुद्र में (उसको विचलित न करते हुए) प्रवेश कर जाते हैं, वैसे ही जिस (मनुष्य) में कामनायें (कोई विकार उत्पन्न किये बिना) समा जाती हैं, वह शान्ति को प्राप्त होता है; कामनाओं का इच्छुक (मनुष्य) नहीं।

संदर्भ : शब्दशः विष्णुस्मृति 72.7।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः । निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ २-७१॥

2.71. जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर स्पृहारहित, ममत्व ('मेरा' का भाव) से रहित और अहंकाररहित हुआ विचरता है, वह शांति को प्राप्त होता है।

टिप्पणी : 'चरति' का अर्थ श्रीधर के अनुसार 'प्रारब्ध द्वारा प्रदान पदार्थों का उपभोग', तेलंग के अनुसार 'जीवन यापन', तिलक के अनुसार 'कर्म करता है' है। चरन् (गीता 2.64), चरतां (गीता 2.67), चरति (गीता 2.71) भी देखें.

संदर्भ : योगवाशिष्ठ 3.9.9: यस्य नाहंकृतो भावो यस्य बुद्धिर्न लिप्यते । कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति । स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ २-७२॥

2.72. हे पार्थ, यह ब्राह्मी (ब्रह्म को प्राप्त हुए की) स्थिति है, इसको प्राप्त होकर कोई मोहित नहीं होता। अन्तकाल में भी इसमें स्थित होकर (मनुष्य) ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त (ब्रह्म में लीन) हो जाता है।

टिप्पणी 1: ब्राह्मी स्थिति 'ब्रह्म के साथ स्वयं की पहचान की स्थिति है, जो ब्रह्म के सही ज्ञान से उत्पन्न होती है' (तेलंग)।

टिप्पणी : 'निर्वाण' एक बौद्ध शब्द है जिसका अर्थ है – 'समाप्ति', 'बुझना', 'अस्तित्व और गैर-अस्तित्व का अभाव' । अतः 'ब्रह्मनिर्वाण' की व्याख्या 'ब्रह्म में लीन होना अर्थात् मोक्ष (शङ्कराचार्य), ब्रह्म की शांति (हिल), 'आत्मानुभव का सुख' (रामानुजाचार्य), ब्रह्म में विलय (श्रीधर), ब्रह्म में विलुप्ति (अरबिंदो); 'ब्रह्म में लीन होने का सुख' (तेलंग) आदि के रूप में की गई है । गीता 5.25 और 5.26 भी देखें।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

कर्मयोगः

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा ।
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन । तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ ३-१॥

3.1. हे जनार्दन, यदि आपके विचार में कर्म की अपेक्षा बुद्धि (ज्ञान) श्रेष्ठ है; तो, हे केशव, मुझे घोर (भयंकर) कर्म में क्यों लगाते हैं ?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे । तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ ३-२॥

3.2. आप मिश्रित (मिले हुए से) वाक्य (वचनों) से मेरी बुद्धि को मोहित सी कर रहे हैं। उस एक (बात) को निश्चित करके कहिये जिससे मैं कल्याण (मोक्ष, परमानंद) को प्राप्त हो जाऊँ।

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान् ने कहा ।
लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ । ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३-३॥

3.3. हे निष्पाप (अर्जुन), इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले (उपरोक्त श्लोक 2.39 अथवा पुरातन काल में) कही गयी है – सांख्यों (सांख्य-योगियों) की ज्ञानयोग के द्वारा, योगियों की कर्मयोग के द्वारा।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते । न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ३-४॥

3.4. मनुष्य न तो (मात्र) कर्म किये बिना नैष्कर्म्य (निष्काम कर्म) को प्राप्त होता है और न कर्मों के त्याग मात्र से सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

सन्दर्भ: बृहदारण्यक उपनिषद् 4.4.22 (एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति) मुक्ति के साधन के रूप में त्याग का प्रतिपादन करती है। गीता 3.4 (दूसरा भाग) इसे "एव" शब्द से परिभाषित करता है जिसका अर्थ है संन्यास के माध्यम से मुक्ति प्राप्त करने के लिए अतिरिक्त आवश्यकता (जैसे ज्ञान, हृदय की पवित्रता, आदि)।

टिप्पणी: नैष्कर्म्य: (जिसका शाब्दिक अर्थ निष्क्रियता है) का तात्पर्य है 'क्रिया और उसके परिणाम का अभाव' अर्थात् 'कर्म तथा कर्मफल से मुक्ति (परित्याग)', 'बंधन के प्रभाव से रहित क्रिया' (तिलक), 'ज्ञान' (श्रीधर)। शङ्कराचार्य 'नैष्कर्म्य' और 'सिद्धि' दोनों की व्याख्या ' कर्मशून्य स्थिति अर्थात् निष्क्रिय आत्मस्वरूप में स्थित होना रूप ज्ञानयोग से प्राप्त होने वाली निष्ठा' के रूप में करते हैं। (गीता 18.49 भी देखें) ।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् । कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ३-५॥

3.5. निःसन्देह कोई भी किसी भी काल में क्षण मात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सब (जीव) प्रकृति-जनित गुणों द्वारा अवश हुए कर्म करने के लिये बाध्य हैं।

संदर्भ: भागवत पुराण 6.1.53: न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् । कार्यते ह्यवश: कर्म गुणै: स्वाभाविकैर्बलात् ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ३-६॥

3.6. जो मनुष्य कर्मेन्द्रियों को रोककर मन से उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता हुआ बैठा रहता है, वह विमूढ-बुद्धि मिथ्याचारी (कपटी) कहा जाता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन । कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ३-७॥

3.7. किन्तु हे अर्जुन, जो मन से ज्ञानेन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है।

टिप्पणी: यहाँ ज्ञानेन्द्रिय (धारणा के अंग) और कर्मेन्द्रिय (क्रिया के अंग) के बीच अंतर किया गया है। धारणा के अंगों को नियंत्रित करने की आवश्यकता है जबकि कर्म के अंगों को कर्म-योग (इच्छा रहित क्रिया) में संलग्न होने की आवश्यकता है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः । शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ३-८॥

3.8. तुम (शास्त्रोक्त) कर्तव्य कर्म करो क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। तथा कर्म न करने से तुम्हारा शरीर- निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा। (गीता 18.7 भी देखें).

टिप्पणी: 'नियतं' का अर्थ शङ्कराचार्य के अनुसार 'श्रुति द्वारा निर्धारित' और रामानुजाचार्य के अनुसार "व्याप्तं अर्थात् प्रकृति और जीवात्मा के संसर्ग से उत्पन्न' है।

संदर्भ: ईशोपनिषद् 2: कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः । तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ३-९॥

3.9. यज्ञ (विष्णु) के निमित्त किये जाने वाले कर्मों से इतर (अन्य) किये कर्मों द्वारा यह संसार बँधता है। हे कौन्तेय, आसक्ति से मुक्त होकर उस (यज्ञ, विष्णु) के निमित्त कर्म करो।

टिप्पणी: तैत्तिरीय संहिता 1.7.4.4 (यज्ञो वै विष्णु:) के अनुसार, शङ्कराचार्य और श्रीधर 'यज्ञ' का अर्थ 'विष्णु' मानते हैं।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः । अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ ३-१०॥

3.10. पुरातन काल में प्रजापति (ब्रह्मा) ने यज्ञसहित प्रजाओं को रचकर (उनसे) कहा, "तुम इस (यज्ञ) द्वारा वृद्धि को प्राप्त होओ (और) यह तुम्हे (कामधेनु की तरह) अभीष्ट भोग देने वाला हो।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः । परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ३-११॥

3.11. (तुम) इस (यज्ञ) के द्वारा देवताओं को उन्नत (तृप्त) करो और वे देवता तुम लोगों को उन्नत करें। एक दूसरे को उन्नत करते हुए तुम परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे।

संदर्भ: शुक्ल यजुर्वेद 3.49: वस्नेव विक्रीणावहाऽइषमूर्जम् शतक्रतो।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः । तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ ३-१२॥

3.12. क्योंकि यज्ञ से उन्नत (तृप्त) हुए देवता तुम्हे इच्छित भोग देंगे । जो उन्हें (प्रजाओं को) दिये गए (भोगों) को बिना उन्हें (देवताओं) (वापस) देकर (अर्पित किये) भोगता है, वह वास्तव में चोर है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः । भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ ३-१३॥

3.13. यज्ञ से बचे (अन्न) को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं; परन्तु वे पापी पाप को खाते हैं जो स्वयं के लिये पकाते हैं।

संदर्भ: मनुस्मृति 3.118: अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् । यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत् सतामन्नं विधीयते ॥ ऋग्वेद 10.117.6: नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।

टिप्पणी: यज्ञशिष्टाशिनः (गीता 3.13) और यज्ञशिष्टामृतभुजो (गीता 4.31) का अंतर देखें।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः । यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ ३-१४॥

3.14. जीव अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षा से सम्भव होता है, वर्षा यज्ञ से होती है, यज्ञ (नियत, शास्त्रोक्त) कर्म से उत्पन्न होता है ।

सन्दर्भ: मैत्री उपनिषद् 6.36: आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः। मनुस्मृति 3.76: अग्नौ प्रास्ताऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज् जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् । तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ ३-१५॥

3.15. कर्म को ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जानो (और) ब्रह्म को अविनाशी से उत्पन्न (हुआ जानो)। इसलिए सर्वव्यापी ब्रह्म सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित (स्थित) है।

टिप्पणी : यहाँ 'ब्रह्म' का अर्थ शङ्कराचार्य के अनुसार 'वेद' और रामानुजाचार्य के अनुसार 'भौतिक शरीर' है। शङ्कराचार्य द्वारा किया गया अर्थ बृहदारण्यक उपनिषद् 4.5.11 (निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस) पर आधारित है। रामानुजाचार्य द्वारा किया गया अर्थ मुण्डकोपनिषद् 1.1.9 (तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायाते) पर आधारित है। 'अक्षर' का अर्थ रामानुजाचार्य के अनुसार 'जीवात्मा' है जबकि मध्वाचार्य के अनुसार 'वेद' है। 'ब्रह्म' को 'वेद' मानने का मूल अर्थ यह है कि 'यद्यपि वेद सभी विषयों को स्पष्ट करते हैं, उनका मुख्य विषय यज्ञ है' (तेलंग)।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः । अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ ३-१६॥

3.16. हे पार्थ, जो इस संसार में इस प्रकार चलाये हुए (सृष्टि) चक्र के अनुकूल नहीं बरतता, वह इन्द्रियों में रमण करने वाला पापायु (पुरुष) व्यर्थ में जीता है।

टिप्पणी: जिसे संसार-चक्र के भाग के रूप में कर्म (सांसारिक कर्तव्य या यज्ञ अनुष्ठान) करना चाहिए लेकिन इंद्रियों की आसक्ति के कारण वह ऐसा नहीं करता है, उसका जीवन बेकार है। कर्म अज्ञानी के लिए तब तक है जब तक वह योग के उच्च रूपों के लिए योग्यता प्राप्त नहीं कर लेता।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः । आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ ३-१७॥

3.17. परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करने वाला और आत्मा में तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये (इस लोक में) कोई कर्तव्य कर्म नहीं है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन । न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ३-१८॥

3.18. उसका इस संसार में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्म के न करने से; तथा न सब प्राणियों में इसका किसी प्रयोजन हेतु आश्रय रहता है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर । असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ ३-१९॥

3.19. इसलिये आसक्ति से रहित होकर निरन्तर कर्तव्य (करणीय, नियत) कर्म करते रहो। असक्त रहकर कर्म करता हुआ ही मनुष्य परमात्मा को प्राप्त होता है।

टिप्पणी : श्लोक 17 और 18 में उस प्रकार के व्यक्ति का वर्णन किया गया है जिसे किसी भी कर्म में संलग्न होने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन अगले श्लोक में अर्जुन को कर्म में संलग्न होने के लिए प्रोत्साहित किया गया है। इसका अर्थ यह है कि या तो अर्जुन श्लोक 17 और 18 में वर्णित उस प्रकार का व्यक्ति नहीं है (अर्थात, इतना प्रबुद्ध नहीं है कि कर्म से मुक्त होने के योग्य हो) जैसा कि श्रीधर का विचार है, या यह कि 'यद्यपि एक प्रबुद्ध व्यक्ति कर्म और निष्क्रियता के बीच तटस्थ होता है, सांसारिक जीवन के लिए कर्म अभी भी आवश्यक है' जो तिलक का विचार है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः । लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ ३-२०॥

3.20. जनक आदि (ज्ञानीजन) भी कर्म के द्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे। यहाँ तक कि लोकसंग्रह को देखते हुए (अर्थात, उदाहरण स्वरूप) भी तुम्हे कर्म करना उचित है।

टिप्पणी : यहां अर्जुन को बताया गया है कि जनक और अश्वपति (दोनों उपनिषदों में वर्णित हैं) जैसे राजाओं ने केवल कर्म के माध्यम से (अर्थात, राजा रहते हुए) पूर्णता (सिद्धि) प्राप्त करने का प्रयास किया था। उन्होंने दूसरों को पूर्णता का आसान रास्ता दिखाने के लिए भी ऐसा किया और तुम्हें भी दूसरों के लिए उदाहरण बनकर ऐसा ही करना चाहिए।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ३-२१॥

3.21. जैसा जैसा आचरण श्रेष्ठ मनुष्य करता है, वैसा वैसा ही अन्य मनुष्य करते हैं । वह जो प्रमाण कर देता है, संसार उसका अनुसरण करता है ।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन । नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ ३-२२॥

3.22. हे अर्जुन, इन तीनों लोकों में मेरे लिए कुछ भी कर्तव्य कर्म नहीं है, न कोई भी प्राप्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्म में लगा रहता हूँ ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः । मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ३-२३॥

3.23. क्योंकि हे पार्थ, यदि कदाचित् मैं तंद्रारहित (सावधान) रहकर कर्मों में न लगूं तो मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं (अथवा करेंगे) ।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् । सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ ३-२४॥

3.24. यदि मैं कर्म न करूँ तो ये संसार नष्ट हो जायँ और मैं संकरता का करने वाला व इस समस्त प्रजा को नष्ट करने वाला होऊँ ।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत । कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥ ३-२५॥

3.25. हे भारत, कर्म में आसक्त हुए अज्ञानी जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह की इच्छा से उसी प्रकार करे ।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् । जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ ३-२६॥

3.26. ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि वह कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम (अन्यथा भाव) उत्पन्न न करे । (स्वयं) योग में स्थित रहकर कर्म करता हुआ उनसे (भी) सभी कर्मों को पसंद (सेवन) करवावे ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ ३-२७॥

3.27. कर्म (कार्य) सब प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं, (परन्तु) अहंकार से मोहित अन्तःकरण वाला 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है ।

संदर्भ : भागवत पुराण 3.26.6: एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृते: पुमान् । कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः । गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ ३-२८॥

3.28. परन्तु हे महाबाहो, गुण और (उनके) कार्य के विभाग के तत्त्व को जानने वाला 'गुण ही गुणों में बरत रहे हैं' ऐसा समझकर आसक्त नहीं होता।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु । तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ ३-२९॥

3.29. प्रकृति के गुणों से मोहित हुए मनुष्य गुणों (और उनके) कर्मों में आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझने वाले मन्द बुद्धि वालों को पूर्णतया जानने वाला विचलित न करे।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा । निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३-३०॥

3.30. अध्यात्म में लग्न चित्त द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को मुझ में अर्पण करके; आशा-रहित, ममत्व-रहित (और) सन्ताप-रहित होकर युद्ध कर।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः । श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३-३१॥

3.31. जो मनुष्य श्रद्धायुक्त व दोषदृष्टि से रहित होकर मेरे इस मत का नित्य अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाते हैं।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् । सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३-३२॥

3.32. परन्तु जो मुझ में दोषदृष्टि रखते हुए मेरे मत का अनुसरण नहीं करते, उन मूर्खो (और) सम्पूर्ण ज्ञानों से भ्रमितों को नष्ट हुए जानो। (गीता 18.67 भी देखें)

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि । प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३-३३॥

3.33. यहाँ तक कि ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करता है। (सभी) जीव अपनी प्रकृति को प्राप्त होते हैं। (फिर इंद्रियों का) दमन क्या करेगा ?

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ । तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३-३४॥

3.34. इन्द्रिय और (उस) इन्द्रिय के विषय के बीच राग (और) द्वेष व्यवस्थित (स्थापित) हैं। उनके वशीभूत नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे दोनों इसमें विघ्न करने वाले हैं।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३-३५॥

3.35. अच्छे से निभाए गए दूसरे के धर्म से अपना गुणरहित धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्म में मरना श्रेय है (जबकि) पराया धर्म भयावह है।

टिप्पणी : रामानुजाचार्य के अनुसार 'स्वधर्म' का अर्थ 'कर्मयोग' और 'परधर्म' का अर्थ 'ज्ञानयोग' है। गीता 18.47 और मनुस्मृति 10.97 (वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः। परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः।) भी देखें

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा।
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः । अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३-३६॥

3.36. फिर हे वार्ष्णेय, किससे प्रेरित होकर यह मनुष्य न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुए की भाँति पाप का आचरण करता है ?

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान् ने कहा।
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः । महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३-३७॥

3.37. यह काम है, यह क्रोध है, जो रजोगुण से उत्पन्न होता है – बहुत खाने वाला (अर्थात् भोगों से कभी न अघाने वाला), महापापी ! यहाँ (इस संसार में) तुम इसको वैरी जानो।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च । यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३-३८॥

3.38. जैसे धूएँ से अग्नि और धूल से दर्पण ढका रहता है, जैसे जेर से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस (काम) से यह (ज्ञान) ढका रहता है।

टिप्पणी: यहाँ 'इदम्' का अर्थ बेसेन्ट के अनुसार 'ब्रह्माण्ड' और तिलक के अनुसार 'सब कुछ' है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३-३९॥

3.39. हे कौन्तेय, ज्ञानियों के नित्य वैरी इस काम-रुपी अपूर्णीय अग्नि के द्वारा (मनुष्य का) ज्ञान आच्छादित है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते । एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ३-४०॥

3.40. इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसके निवास-स्थान कहे जाते हैं। इनके द्वारा ज्ञान को ढक करके यह जीवात्मा को मोहित कर देता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ । पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ३-४१॥

3.41. इसलिये हे भरतर्षभ, तुम सबसे पहले इन्द्रियों को संयमित करके ज्ञान और विज्ञान का निश्चित नाश करने वाले इस पाप-रूप (काम) को मार डालो।

टिप्पणी: सामान्यतः 'ज्ञान' का अर्थ 'वेदान्त' और 'विज्ञान' का अर्थ 'सांख्य' माना जाता है। शङ्कराचार्य के अनुसार 'ज्ञान' का अर्थ 'वेदों और गुरुओं से प्राप्त ज्ञान' और 'विज्ञान' का अर्थ 'उस ज्ञान का व्यक्तिगत अनुभव' है। रामानुजाचार्य के

अनुसार 'ज्ञान' का सम्बन्ध 'आत्मस्वरूप' और 'विज्ञान' का सम्बन्ध 'आत्मविवेक' से है। तेलंग ने इन्हें 'पुस्तकों या शिक्षकों से प्राप्त ज्ञान' और 'व्यक्तिगत धारणा से अनुभव' के रूप में अनुवादित किया है जबकि तिलक ने इन्हें 'आध्यात्मिक ज्ञान' और 'विशिष्ट ज्ञान' के रूप में व्याख्यायित किया है। श्रीधर के अनुसार ज्ञान का अर्थ 'आत्म-ज्ञान' और विज्ञान का अर्थ 'वेदों का ज्ञान' है। डेवीस के अनुसार ज्ञान का अर्थ 'आध्यात्मिक ज्ञान' और विज्ञान का अर्थ 'सांसारिक ज्ञान' है। ज्ञान और विज्ञान हेतु गीता 6.8, 7.2, 9.1 भी देखें।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ३-४२॥

3.42. इन्द्रियों को (स्थूल शरीर से) श्रेष्ठ कहते हैं; इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन है, मन से भी श्रेष्ठ बुद्धि है, जो बुद्धि से भी श्रेष्ठ है वह वह (आत्मा) है।

संदर्भ: कठोपनिषद् 1.3.10: इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ इंद्रियों से श्रेष्ठ (परे) उनके विषय हैं; विषयों से श्रेष्ठ मन है; मन से श्रेष्ठ बुद्धि है, बुद्धि से श्रेष्ठ परमात्मा (आत्मा) है। और, कठोपनिषद् 2.3.7: इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् । सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ इंद्रियों से श्रेष्ठ मन है; मन से ऊपर सत्त्व (बुद्धि) है; बुद्धि के ऊपर महान आत्मा है; महान् (महत) से भी ऊँचा अव्यक्त है। रामानुज और थॉमसन सः (वह) की व्याख्या काम (इच्छा) के रूप में करते हैं।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना । जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ३-४३॥

3.43. इस प्रकार बुद्धि से श्रेष्ठ (आत्मा) को जानकर (और) (निश्चयात्मिका) बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके, हे महाबाहो, इस कामरूप दुर्जय शत्रु को मार डालो।

टिप्पणी: 'संस्तभ्यात्मानमात्मना' का तात्पर्य शङ्कराचार्य के अनुसार 'आत्मा को शुद्ध मन के द्वारा समाधिस्थ करके' और मधुसूदन के अनुसार 'निश्चयात्मिका बुद्धि के द्वारा मन को स्तंभित (स्थिर) करके' है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

ज्ञानकर्मसंन्यासयोगः

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान् ने कहा।
इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् । विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ ४-१॥

4.1. मैंने इस अविनाशी योग को विवस्वान (सूर्य) से कहा था, विवस्वान ने (अपने पुत्र) मनु से कहा, मनु ने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकु से कहा।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः । स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ ४-२॥

4.2. हे परंतप, इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इसे राजर्षियों ने जाना। वह योग बहुत काल से इस लोक में लुप्त हो गया था।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः । भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ४-३॥

4.3. वही यह पुरातन योग आज मेरे द्वारा तुम्हे कहा गया है (क्योंकि) तुम मेरे भक्त और (प्रिय) सखा हो। यह निश्चित ही उत्तम रहस्य है।

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा।
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः । कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४-४॥

4.4. आपका जन्म बाद का है (और) सूर्य का जन्म पहले का है (तब) मैं यह कैसे समझूँ कि आप ही ने इसे आदि में कहा था?

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान् ने कहा।
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन । तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ४-५॥

4.5. हे अर्जुन, मेरे और तुम्हारे बहुत जन्म बीत चुके हैं । हे परंतप, उन सबको मैं जानता हूँ, तुम नहीं जानते।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ४-६॥

4.6. मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी (तथा) (सभी) प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी, अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी माया (संकल्प - रामानुजाचार्य) से प्रकट होता हूँ।

संदर्भ : बृहदारण्यक उपनिषद् 2.3.1 और मैत्री उपनिषद् 5.3: द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ४-७॥

4.7. हे भारत, जब-जब धर्म की हानि (और) अधर्म की उन्नति होती है, तब मैं अपने (रूप) को रचता (प्रकट करता) हूँ।

टिप्पणी: यहाँ शङ्कराचार्य और रामानुजाचार्य के अनुसार 'धर्म' का अर्थ 'वर्णाश्रम अर्थात् जातिगत धर्म' है ।

संदर्भ: मार्कण्डेय पुराण 4.53: यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति जैमिने । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजत्यसौ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ४-८॥

4.8. साधु पुरुषों की रक्षा करने के लिये, दुष्कर्मियों का विनाश करने के लिये (और) धर्म की (पुनर्) स्थापना करने के लिये मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः । त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ४-९॥

4.9. हे अर्जुन, मेरा जन्म और कर्म दिव्य है – इस प्रकार जो तत्त्व से जान लेता है, वह शरीर को त्यागने के उपरांत पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता, (वह) मुझे प्राप्त होता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः । बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ ४-१०॥

4.10. (पहले भी) राग, भय और क्रोध से मुक्त हुए, मुझ में तल्लीन रहने वाले, मेरे आश्रित रहने वाले बहुत से (मनुष्य) ज्ञानरूप तप से पवित्र होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ४-११॥

4.11. जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता (स्वीकारता) हूँ; (क्योंकि) हे पार्थ, मनुष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं।

टिप्पणी: विभिन्न धर्मों के सभी रास्ते उसी एक परमात्मा तक पहुँचते हैं।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः । क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ ४-१२॥

4.12. कर्मों के फल को चाहने वाले लोग देवताओं का पूजन किया करते हैं; क्योंकि मनुष्यलोक में कर्मों का फल शीघ्र मिलता है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः । तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ ४-१३॥

4.13. गुणों और कर्मों के विभाग के अनुसार मेरे द्वारा चतुर्वर्ण (चार वर्णों – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) की रचना की गयी है। इसका कर्ता होते हुए भी मुझे अकर्ता (और) अविनाशी जानो।

टिप्पणी: यह श्लोक काफी आलोचना का विषय रहा है क्योंकि यहां जाति को दैवीय रूप से निर्मित मानव संस्था कहा गया है। लेकिन यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि इस श्लोक में वर्ण गुण और कर्म पर आधारित हैं; कुल और जन्म पर नहीं। लेकिन ब्रह्म न तो पक्षपाती है और न ही क्रूर है (ब्रह्मसूत्र 2.1.34: वैषम्यनैर्घृण्ये न)। ऋग्वेद 10.90.12 (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥) भी देखें।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा । इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ ४-१४॥

4.14. न मुझे कर्म लिप्त करते हैं, न मेरी कर्मों के फल में स्पृहा (कामना) है – ऐसा जो मुझे जान लेता है, (वह) कर्मों से नहीं बँधता।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः । कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ ४-१५॥

4.15. ऐसा जानकर ही पूर्वकाल के मुमुक्षुओं (मोक्ष के अभिलाषिओं) द्वारा भी कर्म किये गए हैं। इसलिये तुम भी कर्म करो जैसा पूर्वजों के द्वारा पूर्वकाल में किया गया है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः । तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ ४-१६॥

4.16. कर्म क्या है ? अकर्म क्या है ? इस (का निर्णय करने) में कवि (बुद्धिमान्) लोग भी मोहित हो जाते हैं। इसलिये मैं तुम्हे कर्म का वर्णन करूँगा जिसे जानकर तुम अशुभ से मुक्त हो जाओगे।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः । अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ ४-१७॥

4.17. कर्म का विषय (तत्त्व) जानने योग्य है और विकर्म का भी जानने योग्य है व अकर्म का जानने योग्य है; कर्म की गति गहन है।

टिप्पणी: शङ्कराचार्य के अनुसार 'कर्म' का अर्थ 'नियत कर्म', 'विकर्म' का अर्थ 'निषिद्ध कर्म' और 'अकर्म' का अर्थ 'शांत रहना' है। मध्वाचार्य कहते हैं कि मोक्ष के लिए केवल कर्म को जानना ही पर्याप्त नहीं है, उसकी प्रकृति को भी जानना आवश्यक है। उनके अनुसार 'विकर्म' का अर्थ है 'ऐसा कर्म जो बंधन में बांधे'।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः । स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ ४-१८॥

4.18. जो मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है और जो अकर्म में कर्म (देखता है), वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वह योग में युक्त है, पूर्णकाम (कृतकृत्य, सफलमनोरथ) है।

टिप्पणी: शङ्कराचार्य इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं 'शरीर की क्रिया आत्मा की निष्क्रियता है और निष्क्रियता भी एक प्रकार की क्रिया है जो शरीर से संबंधित है; इस प्रकार क्रिया और निष्क्रियता दोनों केवल शरीर से संबंधित हैं'।

रामानुजाचार्य व्याख्या करते हैं कि वह व्यक्ति बुद्धिमान है जो कर्म करने में आत्म-साक्षात्कार देखता है और आत्मा के ज्ञान में कर्म देखता है। मध्वाचार्य कहते हैं कि बुद्धिमान व्यक्ति वह है जो कर्म करते समय यह सोचता है कि केवल ईश्वर ही कार्य कर रहा है और निष्क्रिय रहते हुए (जैसे, सोते हुए) भी सोचता है कि केवल ईश्वर ही कार्य कर रहा है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः । ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ ४-१९॥

4.19. जिसके सम्पूर्ण कर्म कामना और संकल्प से रहित हो गये हैं, कर्म ज्ञानरूप अग्नि में भस्म हो गये हैं, उसे ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः । कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ ४-२०॥

4.20. वह नित्यतृप्त, निराश्रय (मनुष्य) कर्मों के फल में आसक्ति त्याग कर कर्मों में लगा हुआ भी वास्तव में कुछ नहीं करता।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः । शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४-२१॥

4.21. निराशी (आशारहित), जीते हुए चित्तात्मा वाला, (जिसने) समस्त (भोगों की) सामग्री का परित्याग कर दिया है, (वह) केवल शरीर-सम्बन्धी कर्म करता हुआ, पाप को नहीं प्राप्त होता।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः । समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ ४-२२॥

4.22. बिना इच्छा के अपने-आप प्राप्त हुए लाभ में सन्तुष्ट रहने वाला, द्वन्द्वों (हर्ष-शोक आदि) से अतीत, ईर्ष्या से रहित, सिद्धि और असिद्धि (सफलता और विफलता) में सम रहने वाला (मनुष्य) कर्म करता हुआ भी नहीं बँधता।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः । यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ ४-२३॥

4.23. जिसकी आसक्ति नष्ट हो गयी है, जो (हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों से) मुक्त हो गया है, जिसका चित्त ज्ञान में अवस्थित है, जो यज्ञ-सम्पादन के लिये कर्म करता है, उसके सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ ४-२४॥

4.24. अर्पण ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्म द्वारा ब्रह्म-रूप अग्नि में आहुति दी जाती है; ब्रह्म-रूप कर्म में समाधिस्थ (कर्म को ब्रह्म समझ कर उसमे स्थित रहने वाले) का गन्तव्य भी ब्रह्म है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते । ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ ४-२५॥

4.25. कुछ (दूसरे) योगी (कर्मयोगी) देवताओं का ही यज्ञ के द्वारा पूजन (अनुष्ठान) करते हैं; अन्य (ज्ञान-योगी) ब्रह्म-रूप अग्नि में आत्म-रूप यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ (आत्मा) का अर्पण (हवन) करते हैं।

संदर्भ: ऋग्वेद 10.90.16 (पुरुष सूक्त): यज्ञेन यज्ञमयजंत (यज्ञ के द्वारा यज्ञ का पूजन)।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति । शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ ४-२६॥

4.26. कुछ (लोग) श्रोत्र आदि अन्य इन्द्रियों का संयमरूप अग्नियों में हवन (अर्पण) करते हैं (और) दूसरे (लोग) शब्दादि अन्य विषयों का इन्द्रियरूप अग्नियों में हवन (अर्पण) करते हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे । आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ ४-२७॥

4.27. दूसरे (लोग) इन्द्रियों की सब क्रियाओं को व प्राण की क्रियाओं को ज्ञान से प्रकाशित आत्मसंयमयोग की अग्नि में अर्पित करते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे । स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ ४-२८॥

4.28. कुछ दूसरे कठोर व्रतधारी यत्नशील (लोग), द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ और स्वाध्याय व ज्ञानयज्ञ (करते हैं)।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे । प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ ४-२९॥

4.29. कुछ दूसरे प्राणायामपरायण (लोग) प्राण और अपान की गति को रोककर अपान में प्राण को व प्राण में अपान को अर्पित करते हैं।

टिप्पणी : प्राणायाम जीवनी शक्ति को नियंत्रित करने की प्रक्रिया है, जिसे क्रिया योग कहते हैं। परमहंस योगानन्द के अनुसार इस श्लोक में और गीता 5.27 और गीता 5.28 में क्रिया योग का वर्णन किया गया है।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति । सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ४-३०॥

4.30. दूसरे नियत आहार करने वाले (पुरुष) प्राणों को प्राणों में अर्पित करते हैं । ये सभी यज्ञविद हैं जिनके पाप यज्ञों द्वारा नष्ट हो चुके हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् । नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ४-३१॥

4.31. हे कुरुश्रेष्ठ, यज्ञ से बचे हुए अमृत का सेवन करने वाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यज्ञ न करने वाले के लिये यह मनुष्यलोक (ही) नहीं है, फिर दूसरा (लोक) कैसे (हो सकता है)?

टिप्पणी: यज्ञशिष्टाशिनः (गीता 3.13) और यज्ञशिष्टामृतभुजो (गीता 4.31) का अंतर देखें।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे । कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ४-३२॥

4.32. ऐसे बहुत तरह के यज्ञ वेदों में फैले हुए (वर्णित) हैं। उन सबको कर्म (मन, इन्द्रिय इत्यादि की क्रिया) द्वारा उत्पन्न हुए जानो। ऐसा जानकर तुम (कर्मबन्धन से) मुक्त हो जाओगे।

टिप्पणी: रामानुजाचार्य ने 'यज्ञ' का अर्थ 'कर्मयोग' किया है। 'वितता ब्रह्मणो मुखे' का अर्थ अलग अलग व्याख्याकारों ने अलग अलग तरह से किया है; जैसे शङ्कराचार्य, श्रीधर और तेलंग के अनुसार 'वेद से जानने में आते हैं', थॉमसन के अनुसार 'परमात्मा की उपस्थिति में किये गए', डेवीस के अनुसार 'ब्रह्म की उपस्थिति में प्रदत्त', मध्वाचार्य के अनुसार 'ब्रह्म के लिए', तिलक के अनुसार 'ब्रह्म के मुख में घटित'। हिल ने इसे पिछले श्लोक के 'यान्ति ब्रह्म' के साथ जोड़ कर, इसका अर्थ 'ब्रह्म के द्वार पर बिखरे (फैले) हुए' किया है ताकि ब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य अपनी पसंद का यज्ञ चुन सके।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप। सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ४-३३॥

4.33. हे परंतप, द्रव्यमय यज्ञ (विधि-विधान, कर्मकाण्ड) की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है; (क्योंकि) हे पार्थ, सारा कर्म पूर्ण रूप से ज्ञान में विलीन (समाप्त) हो जाता है।

संदर्भ: कूर्म पुराण 2.4.25: सर्वेषामेव भक्तानामिष्टः प्रियतरो मम। यो हि ज्ञानेन मां नित्यमाराधयति नान्यथा॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ४-३४॥

4.34. उस ज्ञान को तुम तत्त्वदर्शी ज्ञानियों को आदरपूर्वक प्रणाम करके, सरलतापूर्वक प्रश्न करके, उनकी सेवा करके जानो। वे तुम्हे (उस ज्ञान का) उपदेश करेंगे।

संदर्भ: मुण्डकोपनिषद् 1.2.12: तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव। येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ४-३५॥ or अशेषाणि

4.35. हे पाण्डव, जिसे जानकर फिर तुम इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होवोगे। जिसके द्वारा तुम सब भूतों को अपने में अर्थात (या और) मुझ में देखोगे।

टिप्पणी: यहाँ 'अथ' दो अर्थों में प्रयोग होता है - 'अर्थात' के रूप में यह अद्वैत का व ''और' के रूप में द्वैत का द्योतक है।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ४-३६॥

4.36. यदि तुम सब पापियों से अधिक पाप करने वाले हो तो भी तुम ज्ञानरूपी नौका द्वारा सम्पूर्ण पाप-समुद्र से तर जाओगे।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ४-३७॥

4.37. हे अर्जुन, जैसे अग्नि प्रदीप्त ईंधनों को भस्मसात कर देती है, वैसे ही ज्ञान रूपी अग्नि सब कर्मों को भस्मसात कर देती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ४-३८॥

4.38. निःसंदेह इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कुछ नहीं है । समयोपरांत उस (ज्ञान) को योग में सिद्ध (मनुष्य) स्वयं के भीतर (ही) पा लेता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः । ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ४-३९॥

4.39. श्रद्धावान्, तत्पर, जितेन्द्रिय मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ज्ञान प्राप्त करके वह तत्काल परम शान्ति (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति । नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४-४०॥

4.40. तथा, अज्ञानी और श्रद्धारहित संशयी मनुष्य नष्ट (पतन) हो जाता है। संशयी मनुष्य के लिये न यह लोक है, न परलोक है, न सुख है।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम् । आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४-४१॥

4.41. हे धनञ्जय, जिसने योग की विधि द्वारा कर्मों का त्याग (अर्पण) कर दिया है (और) ज्ञान के द्वारा संशयों को छिन्न कर दिया है, ऐसे आत्मवन्त (स्वयं को जान चुके, वश में किये हुए अन्तःकरण वाले मनुष्य) को कर्म नहीं बाँधते।

टिप्पणी : 'आत्मवन्तं' की व्याख्या 'आत्म-बोध से पूर्ण (संपन्न)' (श्रीधर); 'स्वयं का स्वामी' (डेवीस); 'आत्मज्ञानी' (तिलक); 'सदैव सतर्क' (मधुसूदन); 'आत्म-बोध से पूर्ण अर्थात सतर्क या असावधानी से मुक्त' (तेलंग) के रूप में भी की जाती है।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः । छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४-४२॥

4.42. इसलिये हे भारत (भरतवंशी), तुम हृदय में स्थित इस अज्ञानजनित संशय का आत्मज्ञान रूपी तलवार द्वारा छेदन करके योग में स्थित हो जाओ (और) खड़े हो जाओ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

संन्यासयोगः अथवा कर्मसंन्यासयोगः

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा ।
संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि । यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ ५-१॥

5.1. हे कृष्ण, आप कर्मों के संन्यास की और फिर (कर्म–) योग की प्रशंसा करते हैं । इन दोनों में जो श्रेष्ठ है, वह एक मुझे निश्चित करके कहिये ।

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान् ने कहा ।
संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ । तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ ५-२॥

5.2. कर्मसंन्यास और कर्मयोग, ये दोनों ही कल्याण करनेवाले हैं । परन्तु इन दोनों में कर्मसंन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है ।

सन्दर्भ: मत्स्य पुराण 52.5: ज्ञानयोगसहस्राादधि कर्मयोगः प्रशस्यते ॥ और रामचरितमानस अयोध्याकांड 20-218-2 (कर्म प्रधान विश्व रचि राखा) ।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति । निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ५-३॥

5.3. जो न द्वेष करता है, न आकांक्षा करता है, वह नित्यसंन्यासी के रूप में जानने योग्य है; (राग द्वेषादि) द्वन्द्वों से रहित ही, हे महाबाहो, सुखपूर्वक (आसानी से) (कर्म या जन्म-मरण के) बन्धन से मुक्त होता है ।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः । एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ५-४॥

5.4. बाल-बुद्धि (अज्ञानी) सांख्य और योग को पृथक् पृथक् कहते हैं, न कि पण्डितजन । क्योंकि इनमें से एक में सम्यक् (पूर्ण रूप से) स्थित (मनुष्य) को दोनों का फल प्राप्त हो जाता है ।

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते । एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५-५॥

5.5. सांख्यों द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, वही योगियों द्वारा पहुंचा जाता है। जो सांख्य और योग को एक देखता है, वह (यथार्थ) देखता है ।

संदर्भ: योगवाशिष्ठ 1.1.7: उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः । तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम् ॥ .

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः । योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ५-६॥

5.6. परन्तु हे महाबाहो, योग (कर्मयोग, भक्ति) के बिना संन्यास प्राप्त होना कठिन है। योग से युक्त मुनि ब्रह्म (परमात्मज्ञान- निष्ठारूप पारमार्थिक संन्यास - शङ्कराचार्य) को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

संदर्भ: मत्स्य पुराण 52.6: कर्मयोगोद्भवं ज्ञानं तस्मात् तत्परमं पदम्। और 52.7: तस्मात् कर्मणि युक्तात्मा तत्त्वमाप्नोति शाश्वतम्। कूर्म पुराण 2.4.25 भी देखें।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः । सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ५-७॥

5.7. योगयुक्त, विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रिय, सब प्राणियों का आत्मा जिसका आत्मा है, वह कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् । पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ५-८॥

5.8. तत्त्व को जानने वाला योगी देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ ऐसा माने (मानता है) कि "मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ"।

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ५-९॥

5.9. बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी, इन्द्रियाँ इंद्रियों के अर्थों में बरत रही हैं – ऐसा सोच कर;

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः । लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ५-१०॥

5.10. जो (मनुष्य) कर्मों में आसक्ति को त्यागकर (उन्हें) ब्रह्म को अर्पित करके कर्म करता है, वह पाप से लिप्त नहीं होता जैसे जल द्वारा कमल का पत्ता (लिप्त नहीं होता)।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि । योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ५-११॥

5.11. योगी (मनुष्य) केवल शरीर, मन, बुद्धि अथवा इंद्रियों द्वारा भी, आसक्ति को त्यागकर, अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् । अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ ५-१२॥

5.12. योगी कर्म के फल का त्याग करके परम (स्थायी) शान्ति को प्राप्त होता है (और) जो योगी नहीं है वह कामना की प्रेरणा से फल में आसक्त होकर बँधता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी । नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ ५-१३॥

5.13. अन्तःकरण (इंद्रियाँ) वश में कर चुका देहधारी, न करता हुआ (और) न ही करवाता हुआ, सब कर्मों को मन से त्यागकर नवद्वारों वाले पुर (नगर-रूपी शरीर) में सुख से रहता है।

संदर्भ: कठोपनिषद् 5.1 (ग्यारह द्वार); श्वेताश्वतर उपनिषद् 3.18 और अथर्ववेद 10.2.31 (नौ द्वार)।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः । न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ ५-१४॥

5.14. प्रभु संसार (मनुष्यों) के न कर्तापन, न कर्मों और न कर्मफल के संयोग की रचना करते हैं; अपितु स्वभाव ही बर्त रहा (कार्यरत) है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः । अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ ५-१५॥

5.15. विभु (प्रभु) न किसी के पापकर्म को और न किसी के शुभकर्म को ही ग्रहण करता है; अज्ञान के द्वारा ज्ञान आच्छादित है, उससे (ही) जीवधारी मोहित हो रहे हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः । तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ ५-१६॥

5.16. परन्तु जिनमें वह अज्ञान आत्मज्ञान द्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनमें ज्ञान, सूर्य के सदृश, उस परमात्मा को प्रकाशित कर देता है।

टिप्पणी: रामानुजाचार्य ने 'तत्परम्' को 'ज्ञान' के साथ जोड़कर इसका अर्थ 'वह परम ज्ञान' किया है। 'आत्मनः' को 'अज्ञानं' के साथ जोड़कर इसका का अर्थ 'आत्मा का अज्ञान' अथवा 'ज्ञानेन' के साथ जोड़कर इसका अर्थ 'आत्मज्ञान' भी कर सकते हैं।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः । गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ ५-१७॥

5.17. जिनकी उसमें बुद्धि लगी है, उसमें अन्तःकरण (मन) लगा है, उसमें निष्ठा (भक्ति) है, उसके प्रति परायणता (ध्यान, दिशा) है; वे ज्ञान के द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्ति (पुनर्जन्म से मुक्ति) को प्राप्त होते हैं।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ ५-१८॥

5.18. ज्ञानीजन विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में, कुत्ते में और चाण्डाल में भी समदर्शी होते (एक जैसा देखते) हैं।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः । निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ ५-१९॥

5.19. उनके द्वारा यहीं (इसी जीवन में) संसार (जन्म) को जीत लिया गया है, जिनका मन समभाव में स्थित है। क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, इसलिए वे ब्रह्म में स्थित हैं (अथवा, क्योंकि वे ब्रह्म के समान निर्दोष हैं, इसलिए ब्रह्म में स्थित हैं)।

संदर्भ: छांदोग्य उपनिषद् 2.23.1: ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्। स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ ५-२०॥

5.20. प्रिय को पाकर हर्षित नहीं होना चाहिए और अप्रिय को पाकर उद्विग्न नहीं होना चाहिए। स्थिर-बुद्धि, मूढता-रहित, ब्रह्मवेत्ता (मनुष्य) ब्रह्म में स्थित रहता है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्। स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ ५-२१॥

5.21. जो बाह्य विषयों के स्पर्श में आसक्तिरहित अन्तःकरण वाला अपनी आत्मा (मन) में आनन्द पाता है; वह ब्रह्मयोग से युक्त आत्मा वाला अक्षय आनन्द का अनुभव करता है।

संदर्भ: तैत्तिरीयोपनिषद 3.6 आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ ५-२२॥

5.22. जो ये (इन्द्रिय-विषयों के) संयोग से उत्पन्न होने वाले भोग हैं, वे (ही) दुःख के भी हेतु हैं (और) आदि-अन्त वाले (अर्थात् अनित्य) हैं। हे कौन्तेय, बुद्धिमान् (विवेकी मनुष्य) उनमें नहीं रमता।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ ५-२३॥

5.23. जो यहीं (इसी जीवन में) शरीर त्यागने (मुक्ति) से पहले (ही) काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन कर सकता है, वह योगी है, वह सुखी मनुष्य है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः। स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ ५-२४॥

5.24. जो अन्तरात्मा में सुखी है, अन्तरात्मा में रमण करने वाला है तथा जो प्रकाशित अन्तरात्मा वाला है, वह योगी ब्रह्मभूत (ब्रह्म के साथ एकीभाव) होकर ब्रह्मनिर्वाण (ब्रह्म में विलय) को प्राप्त होता है। (ब्रह्मनिर्वाण हेतु गीता 2.72 भी देखें)।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः। छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ ५-२५॥

5.25. वे ऋषि ब्रह्मनिर्वाण (ब्रह्म में विलय) को प्राप्त होते हैं जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, संशय निवृत्त हो गये हैं, मन जीता हुआ है (और) जो सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत हैं।

टिप्पणी: यहाँ कर्मयोग का वर्णन था। आगे कर्मसन्यास का वर्णन है।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् । अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ ५-२६॥

5.26. काम-क्रोध से रहित, जीते हुए चित्तवाले, यतियों (सन्यासियों), स्वयं को जान लेने वालों के लिये सब ओर से (इस लोक और परलोक में) ब्रह्मनिर्वाण उपस्थित (मौजूद) है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः । प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ ५-२७॥

5.27. बाहर के विषयों को (मन से) बाहर करके और साथ में दृष्टि (मन) को भृकुटि के बीच में स्थित करके, नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके;

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः । विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ ५-२८॥

5.28. वह मुनि जिसकी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि वश में हैं; जो मोक्षपरायण है, इच्छा, भय और क्रोध से रहित है, (वह) सदा ही मुक्त है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् । सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ ५-२९॥

5.29. मुझे यज्ञों (और) तपों का भोगने वाला, सम्पूर्ण लोकों का महेश्वर, सब प्राणियों का सुहृद् जानकर (मनुष्य) शान्ति को प्राप्त होता है।

संदर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 6.7 और शिव पुराण 7.1.6.58: तमीश्वराणां परमं महेश्वरं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

आत्मसंयमयोगः अथवा ध्यानयोगः

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान् ने कहा ।
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ ६-१॥

6.1. जो कर्मफल का आश्रित न रहकर कर्त्तव्य कर्म करता है, वह संन्यासी है तथा योगी है, न कि अग्नि (यज्ञ) का त्याग करने वाला (और) न ही अक्रिय (क्रियाओं का त्याग करने वाला) ।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव । न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥ ६-२॥

6.2. हे पाण्डव, जिसको संन्यास कहते हैं, उस को (ही) योग जानो; क्योंकि संकल्पों (इच्छा) का त्याग न करने वाला कोई योगी नहीं बनता ।

टिप्पणी: 'संकल्प' का अर्थ शङ्कराचार्य के अनुसार 'फल विषयक इच्छाएं' और रामानुजाचार्य के अनुसार 'शरीर का आत्मा के साथ एकत्व का भ्रामक भाव' है ।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते । योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ६-३॥

6.3. (ध्यान) योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मुनि के लिये (निष्काम) कर्म करना (शम अथवा ध्यानयोग का) साधन कहा जाता है । (ध्यान) योग में आरूढ़ हुए उसी (मुनि) का शम को (ध्यानयोग में स्थित रहने का) साधन कहा जाता है ।

टिप्पणी 1: इस प्रकार कर्मयोग (अर्थात्, निष्काम कर्म) ध्यानयोग की प्राप्ति से पहले का साधन है और कर्म संन्यास (अर्थात्, कर्म से निवृत्ति) ध्यानयोग की प्राप्ति के बाद का साधन है ।

टिप्पणी 2: अभिनवगुप्त ने पिछले आधे श्लोक में 'कारण' शब्द का अर्थ 'लक्षण' करते हुए, इस भाग का अर्थ 'शम को योग में आरूढ़ हुए उसी (मुनि) का लक्षण कहा जाता है' ऐसा किया है ।

टिप्पणी 3: श्रीधर के अनुसार 'शम' का अर्थ 'चित्त को विक्षिप्त करने वाले कर्मों से उपरति रूप समाधि' है ।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते । सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ६-४॥

6.4. सम्पूर्ण संकल्पों का त्यागी जब न तो इन्द्रिय-विषयों में (व) न ही कर्मों में आसक्त होता है, तब योगारूढ़ कहा जाता है ।

सन्दर्भ : मनुस्मृति 2.3: सङ्कल्पमूलः कामो वै ।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् । आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६-५॥

6.5. आत्मा (मन) द्वारा आत्मा का उद्धार करना चाहिए, न कि अपना पतन करना चाहिए; क्योंकि आत्मा (मन) ही आत्मा का मित्र, आत्मा (मन) ही आत्मा का शत्रु है।

टिप्पणी: रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य एक 'आत्मा' का अर्थ 'मन' और दूसरे 'आत्मा' का अर्थ 'जीवात्मा' करते हैं जिससे आत्मा के परमात्मा के साथ एकत्व से बचा जा सके।

सन्दर्भ: विष्णु पुराण 6.7.28: मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासंगि मुक्त्यै निर्विषयं तथा ॥ (ब्रह्मबिंदु उपनिषद् 2 भी देखें)।

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः । अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६-६॥

6.6. उसका आत्मा (उसका) अपना मित्र है जिसका स्वयं (मन और इंद्रियां) आत्मा द्वारा जीता हुआ है, किन्तु बिना जीते हुए स्वयं ((मन और इंद्रियों) के लिये आत्मा शत्रु की तरह शत्रुता बर्तता है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः । शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ६-७॥

6.7. जिसका स्वयं (मन और इंद्रियां) जीता हुआ (और) शान्त है उसका आत्मा सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख तथा मान-अपमान में (के रहते हुए भी) समाहित (अपने आप में स्थित) रहता है।

टिप्पणी: यहाँ 'परमात्मा समाहितः' का अर्थ शङ्कराचार्य के अनुसार है 'साक्षात् आत्मभावेन वर्तते अर्थात् साक्षात् आत्मभाव से विद्यमान है' और श्रीधर के अनुसार है 'उसका आत्मा अपने आप में स्थित है अथवा उसके हृदय में परमात्मा स्थित है'। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा अलग अलग नहीं हैं (अद्वैतवाद)। परन्तु इसके विपरीत विचार वाले 'परमात्मा' शब्द का विच्छेद 'परम' और 'आत्मा' करके 'परम' को 'समाहितः' से जोड़ते हैं। थॉमसन और हिल ने भी इसी विच्छेद के आधार पर 'परमात्मा समाहितः' का अर्थ क्रमशः 'आत्मा परमात्मा के परायण है' और 'आत्मा परम के ध्यान में मग्न रहता है' किया है। 'समाहितः' का तात्पर्य तिलक ने 'समान और स्थिर', बेसेंट ने 'संतुलित', आनंदगिरि ने 'पूर्णतया एकाग्रचित्त' लिया है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः । युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ६-८॥

6.8. जिसका अन्तःकरण ज्ञान विज्ञान से तृप्त है, जो कूटस्थ (चट्टान की तरह अडिग, विकाररहित) है, जिसने इन्द्रियाँ जीत ली हैं, जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण समान हैं, वह योगी युक्त (अर्थात् भक्त) कहा जाता है।

टिप्पणी: ज्ञान और विज्ञान के लिए गीता 3.41, 7.2, 9.1 भी देखें.

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु । साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ६-९॥

6.9. सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ , द्वेष्य और बन्धुगणों में, धर्मात्माओं और पापियों में समान-भाव रखने वाला श्रेष्ठ (उत्तम योगी) है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः । एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ ६-१०॥

6.10. मन और इन्द्रियों को वश में रखनेवाला, आशारहित (और) संग्रहरहित योगी अकेला एकान्त स्थान में रहकर मन को योग (ध्यान) में निरंतर स्थिर करे।

टिप्पणी: यहाँ 'युञ्जीत' का अर्थ पतंजलि के योग से है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ६-११॥

6.11. शुद्ध स्थान में अपने को स्थिर आसन पर स्थापन करके, जो न बहुत ऊँचा (और) न बहुत नीचा हो, जिसके ऊपर कुशा, मृगछाला और वस्त्र उत्तरोत्तर बिछे हों;

टिप्पणी: 'उत्तरम्' का अर्थ 'आवरण' अथवा 'क्रमवार एक दूसरे के ऊपर' है।

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 2.10: समे शुचौ शर्करावह्निवालिकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः। मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहा-निवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥ भागवत पुराण 3.28.8: शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम्। तस्मिन्स्वस्ति समासीन ऋजुकाय: समभ्यसेत् ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः । उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ ६-१२॥

6.12. वहां, मन को एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए, आसन पर बैठकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः । सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ ६-१३॥

6.13. काया, सिर और गले को समान, अचल और स्थिर रखकर, अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर, दिशाओं में (इधर उधर) न देखता हुआ;

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 2.8: त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयानकानि॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः । मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ ६-१४॥

6.14. शान्त अन्तःकरण वाला, भयरहित और ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित, मन को रोककर, मुझ में चित्त वाला, मेरे परायण होकर स्थित होवे।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः । शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ ६-१५॥

6.15. वश में किये हुए मन वाला योगी इस प्रकार आत्मा को निरन्तर योग (ध्यान) में लगाता हुआ, शान्ति और मुझ में रहने वाली परम निर्वाण (ब्रह्म में एकाकार, मुक्ति) को प्राप्त होता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः । न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ ६-१६॥

6.16. परन्तु, हे अर्जुन, योग न बहुत खाने वाले, न बिल्कुल न खाने वाले, न बहुत शयन करने वाले और न जागता रहने वाले के लिए है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु । युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ ६-१७॥

6.17. उचित आहार-विहार करने वाले, कर्मों में उचित चेष्टा करने वाले (और) उचित सोने तथा जागने वाले के लिए योग दुःखनाशक है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते । निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ ६-१८॥

6.18. जब वश में किया हुआ चित्त केवल आत्मा में स्थित हो जाता है, तब सब भोगों से स्पृहा (कामना) रहित मनुष्य योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है।

सन्दर्भ: योगवाशिष्ठ 2.15.17: आत्मनैवात्मनि स्वस्थे संतुष्टे पुरुषे स्थिते । प्रशाम्यन्त्याधयः सर्वे प्रावृषीवाशु पांशवः ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता । योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ ६-१९॥

6.19. "जैसे वायुरहित स्थान में स्थित दीपक झिलमिलाता नहीं है" ऐसी उपमा ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की कही गयी (दी जाती) है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया । यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ ६-२०॥

6.20. जहां (जिस अवस्था में) योग के अभ्यास द्वारा निरुद्ध चित्त को विश्राम (निवृत्ति) मिलता है और जहां (ध्यान से शुद्ध हुई) बुद्धि आत्मा का दर्शन (साक्षात्कार) करती हुई आत्मा में ही सन्तुष्ट रहती है;

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् । वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ ६-२१॥

6.21. जहां (जिस अवस्था में), (योगी) इन्द्रियों से अतीत (परे), बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य, अनन्त आनन्द को अनुभव करता है और जहां स्थित होकर वह तत्त्व (सत्य) से विचलित नहीं होता;

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः । यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ ६-२२॥

6.22. और, जिसे पाकर (वह) उससे अधिक दूसरे किसी में लाभ नहीं मानता; जिसमें स्थित रहते हुए भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता;

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् । स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ ६-२३॥

6.23. उस दुःख से संयोग के वियोग को योग के नाम से जानना चाहिये; वह योग निश्चयपूर्वक और न उकताये हुए चित्त से करना चाहिए।

टिप्पणी: श्लोक 20 से 23 समाधि की अवस्था का वर्णन करते हैं। पतंजलि के योगसूत्र 1.2 के अनुसार, योग 'मन के संशोधनों (गतिविधियों) पर नियंत्रण है' (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।) और समाधि इस नियंत्रण की पराकाष्ठा है। इस प्रकार, श्लोक 10 से 23 पतंजलि के योग की शिक्षा देते हैं जिसका उद्देश्य मन की गहन एकाग्रता के माध्यम से मुक्ति है।

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः । मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ ६-२४॥

6.24. संकल्प से उत्पन्न सम्पूर्ण कामनाओं को नि:शेष (पूर्ण) रूप से त्यागकर; मन के द्वारा ही इन्द्रियों के समुदाय को सभी ओर से रोककर;

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया । आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ ६-२५॥

6.25. धीरे-धीरे धैर्य से प्राप्त बुद्धि के द्वारा शांति (वैराग्य) प्राप्त करनी चाहिए। मन को परमात्मा में स्थित करके, कुछ भी और नहीं सोचना चाहिए।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् । ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ ६-२६॥

6.26. जहाँ जहाँ यह चञ्चल और अस्थिर मन विचरता है, वहां वहां से इसे रोककर परमात्मा में ही निरुद्ध करना चाहिए।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् । उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ ६-२७॥

6.27. शान्त मन वाला वही योगी उत्तम सुख (आनन्द) प्राप्त करता है; जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, जो ब्रह्मभूत (ब्रह्म में एकाकार) और पाप-रहित हो गया है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः । सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ ६-२८॥

6.28. वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर स्वयं को योग के अभ्यास में लगाता हुआ सहजता से ब्रह्म के संस्पर्श रूपी अनन्त आनन्द का अनुभव करता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ६-२९॥

6.29. योग से युक्त आत्मा वाला और सर्वत्र समभाव से देखने वाला, आत्मा को सब भूत-प्राणियों में और सब भूत-प्राणियों को आत्मा में स्थित देखता है।

सन्दर्भ: ईशोपनिषद् 6: यस्तु सर्वाणि भूतान्य् आत्मन्य् एवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ मनुस्मृति 12.125: एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना। स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥ भागवत पुराण 3.24.46-47: आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तं अवस्थितम्। अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥ इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा। भगवद्भक्तियुक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ६-३०॥

6.30. जो मनुष्य सर्वत्र मुझे देखता है और सबको मुझ में देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।

सन्दर्भ : ब्रह्मबिन्दु उपनिषद 12: एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ एक ही भूतात्मा समस्त भूत-प्राणियों में विद्यमान है। वही एक जल में (प्रतिबिम्बित) चन्द्रमा की तरह अनेक (रूपों में) दिखाई देता है ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः । सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ६-३१॥

6.31. जो एकत्व में आश्वस्त हुआ, सम्पूर्ण भूतों में स्थित मुझको भजता है, वह योगी सब प्रकार से निर्वाह करता हुआ भी मुझमें बरतता है।

सन्दर्भ: ईशोपनिषद् 7: यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

टिप्पणी: 'सर्वथा वर्तमानोऽपि' की व्याख्या इस प्रकार भी की जाती है - 'वह चाहे जिस प्रकार भी जी रहा हो' (तेलंग); 'यहाँ तक कि सभी कर्मों का त्याग' (श्रीधर)।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन । सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ६-३२॥

6.32. हे अर्जुन, जो दूसरों को अपने जैसा जानकर सर्वत्र समभाव से देखता है, चाहे सुख हो अथवा दुःख हो, वह योगी परम माना गया है।

टिप्पणी: आत्मौपम्य का अर्थ है दूसरों को अपने जैसा देखना (दूसरों के सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख के समान समझना)।

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा।
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन । एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ६-३३॥

6.33. हे मधुसूदन, जो यह योग आप आपके द्वारा समभाव के रूप में कहा गया है, (मन के) चञ्चल होने के कारण मैं इसकी स्थिर स्थिति को नहीं देख रहा हूँ।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् । तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ६-३४॥

6.34. क्योंकि, हे कृष्ण, मन चञ्चल, मथने (कष्ट देने) वाला, बलवान् और दृढ़ है; उसका वश में करना मैं वायु (को रोकने) की भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ।

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान् ने कहा।
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् । अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ६-३५॥

6.35. हे महाबाहो, निःसन्देह मन वश में करने में कठिन और चञ्चल है; परन्तु, हे कौन्तेय, यह अभ्यास और वैराग्य से वश में हो जाता है।

सन्दर्भ: योगसूत्र 1.12: अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

टिप्पणी: चलम् का अर्थ है 'चंचल' अर्थात् 'शरीर, इंद्रियों आदि के लिए कष्टकारी' (तेलंग)।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः । वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ६-३६॥

6.36. असंयतात्मा (जिसका मन वश में नहीं है) द्वारा योग दुष्प्राप्य है, परन्तु वश्यात्मा (वश में किये हुए मन वाले) प्रयत्नशील (मनुष्य) द्वारा (उचित) साधन से प्राप्त किया जा सकता है – यह मेरा मत है।

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा।
अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः । अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ६-३७॥

6.37. हे कृष्ण, जो संयमी (अथवा प्रयत्नशील) नहीं है (यद्यपि) श्रद्धावान है; जिसका मन योग से विचलित हो गया है, वह योग की सिद्धि को न प्राप्त होकर किस गति को जाता है ?

टिप्पणी: यह प्रश्न उन लोगों के भाग्य को संदर्भित करता है जो आस्था से संपन्न हैं लेकिन पर्याप्त रूप से अनुशासित नहीं हैं। 'अयति' प्रयास की 'कमी' का प्रतीक है, 'अनुपस्थिति' का नहीं। यहां और अगले दो श्लोकों में, अर्जुन पूछते हैं कि क्या ऐसा मार्ग किसी लाभ का है जिसे मनुष्य पूरा न कर पाए।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति । अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ६-३८॥

6.38. हे महाबाहो (कृष्ण), क्या वह ब्रह्म (भगवत्प्राप्ति) के मार्ग में, दोनों (इहलोक और परलोक) से भ्रष्ट होकर (गिरकर), आश्रयरहित और मोहित हुआ छिन्न-भिन्न बादल की भाँति नष्ट नहीं हो जाता ?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः । त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ६-३९॥

6.39. हे कृष्ण, (आपको) मेरे इस संशय का पूर्णरूप से छेदन (निवारण) करना चाहिए (कीजिये), क्योंकि आपसे अन्य इस संशय का छेदन करने वाला कोई नहीं है।

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान् ने कहा।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते । न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ६-४०॥

6.40. हे पार्थ, उसका न तो इस लोक में नाश होता है, न परलोक में । क्योंकि, हे प्रिय, कल्याणकारी (शुभ) कर्म करने वाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता ।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ६-४१॥

6.41. योगभ्रष्ट मनुष्य पुण्यवानों के लोकों को प्राप्त होकर, उनमें बहुत समय तक निवास करके, शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है ।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् । एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ६-४२॥

6.42. अथवा वह ज्ञानवान् योगियों के कुल में जन्म ले लेता है । परन्तु इस प्रकार का जो यह जन्म है, (यह) संसार में अधिक दुर्लभ है ।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् । यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ६-४३॥

6.43. वहाँ वह पूर्वजन्म में संग्रह की हुई बुद्धि से संयोग (संपर्क) को प्राप्त होता है और, हे कुरुनन्दन, तब वह सिद्धि के लिये आगे प्रयत्न करता है ।

टिप्पणी: इस प्रकार सिद्धि-प्राप्ति की यात्रा धीमी है और कई जन्मों में क्रमिक प्रगति तक फैली हुई है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः । जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ६-४४॥

6.44. उसी पूर्वाभ्यास के कारण वह अवश (परवश, पराधीन) हुआ भी (योग की ओर) आकर्षित हो जाता है । योग का जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म (वेद में कहे हुए अथवा प्रकृति) को लाँघ जाता है ।

सन्दर्भ: मैत्री उपनिषद् 6.22: द्वे ब्रह्मणि वेदितव्ये शब्दब्रह्म परां च यत् । शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

टिप्पणी: यहाँ 'शब्दब्रह्म' का अर्थ शङ्कराचार्य के अनुसार 'वेद में कहे हुए कर्म का फल', मध्वाचार्य के अनुसार 'वेद वाक्य' और रामानुजाचार्य के अनुसार 'प्रकृति' है ।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः । अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ६-४५॥

6.45. परन्तु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी, (सम्पूर्ण) पापों से शुद्ध हुआ, पिछले अनेक जन्मों में संसिद्ध हुआ, तत्पश्चात परमगति को प्राप्त हो जाता है ।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ६-४६॥

6.46. योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना जाता है और सकाम कर्मियों से भी योगी श्रेष्ठ है; इसलिए, हे अर्जुन, योगी बनो।

टिप्पणी: यहाँ योग को तप, ज्ञान व कर्म से श्रेष्ठ बताया गया है। अगले श्लोक में भक्ति को योग से श्रेष्ठ बताया गया है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ६-४७॥

6.47. सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान् मुझमें लगे हुए अन्तरात्मा से मुझको भजता है, वह मुझे परम श्रेष्ठ योगी मान्य है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

ज्ञानविज्ञानयोगः

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान ने कहा।
मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः । असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ ७-१॥

7.1. हे पार्थ, मुझमें आसक्तचित्त होकर, मेरे परायण होकर, योग में लगे हुए तुम जिस तरह से मुझे सम्पूर्ण रूप से संशयरहित होकर जानोगे, वह सुनो।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः । यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ ७-२॥

7.2. मैं तुम्हें इस ज्ञान को विज्ञानसहित सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसे जानकर संसार में फिर और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रह जाता।

सन्दर्भ: मुण्डकोपनिषद् 1.1.3: कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति। श्वेताश्वतर उपनिषद् 3.8: तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

टिप्पणी: ज्ञान और विज्ञान के लिए गीता 3.41, 6.8, 9.1 भी देखें।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये । यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ७-३॥ (or यतताम् च सहस्राणां)

7.3. हजारों मनुष्यों में कोई एक सिद्धि (सफलता) के लिये प्रयत्न करता है और उनमें भी, जो प्रयत्नरत और सिद्धि-प्राप्त हैं, कोई एक मुझे तत्त्व (यथार्थ रूप) से जानता है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ७-४॥

7.4. पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन और बुद्धि (व) अहंकार भी, यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी प्रकृति (अर्थात् माया) है ।

सन्दर्भ: मुण्डकोपनिषद् 2.1.3: एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ७-५॥

7.5. यह अपरा (निम्न, जड़) (प्रकृति) है परन्तु, हे महाबाहो, तुम मेरी दूसरी, परा (उत्तम, चेतन) जीवरूपा (जीवनदायी) प्रकृति को जानो, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय । अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ७-६॥

7.6. तुम इसे सम्पूर्ण प्राणियों की योनि (जीवनदाता) समझो। मैं इस सम्पूर्ण जगत का प्रभव (मूल, आदि) तथा प्रलय (अंत) हूँ।

सन्दर्भ: तैत्तिरीयोपनिषद 3.1.3: यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७-७॥

7.7. हे धनञ्जय, मुझसे ऊपर दूसरा कोई भी कारण नहीं है। यह सब (सम्पूर्ण जगत) सूत्र में मनियों के सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 6.8: न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ७-८॥

7.8. हे कौन्तेय, मैं जल में रस हूँ, चन्द्रमा व सूर्य में प्रकाश हूँ; सब वेदों में ओंकार, आकाश में शब्द व पुरुषों में पुरुषत्व (हूँ)।

सन्दर्भ: भागवत पुराण 11.16.34: अपां रसश्च परमस्तेजिष्ठानां विभावसु:। प्रभा सूर्येन्दुताराणां शब्दोऽहं नभस: पर:।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ। जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ७-९॥

7.9. मैं पृथ्वी में पवित्र गन्ध और अग्निमें तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियों में जीवन हूँ और तपस्वियों में तप हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ ७-१०॥

7.10. हे पार्थ, सम्पूर्ण भूतों (प्राणियों) में मुझे (ही) सनातन बीज जानो। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ।

सन्दर्भ: कठोपनिषद् 2.2.13: नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्। धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ७-११॥

7.11. और, हे भरतश्रेष्ठ, मैं बलवानों का आसक्ति व कामना से रहित बल हूँ। मैं प्राणियों में धर्म (शास्त्र) के अनुकूल (अविरुद्ध) काम हूँ।

टिप्पणी: शङ्कराचार्य के अनुसार काम का अर्थ 'अप्राप्त विषयों की तृष्णा' और राग का अर्थ 'प्राप्त विषयों में रंजना (प्रीति) है।

सन्दर्भ: छांदोग्य उपनिषद् 8.3.1: त इमे सत्याः कामा अनृतापिधाना: ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये । मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ ७-१२॥

7.12. और ये सात्विक भाव (पदार्थ) और ये राजसिक व तामसिक भी, इन्हे तुम मुझसे ही उत्पन्न हुए जानो; पर वे मुझ में हैं, मैं उनमें नहीं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् । मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ ७-१३॥

7.13. तीन प्रकार के गुणों के इन भावों से मोहित हुआ यह सारा संसार, इनसे परे मुझ अविनाशी को नहीं जानता।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ ७-१४॥

7.14. मेरी यह दैवी (अलौकिक) त्रिगुणमयी माया बड़ी ही दुस्तर है। जो केवल मुझे निरन्तर भजते हैं, वे इस माया से तर जाते हैं।

टिप्पणी: यहाँ, सांख्य की त्रिगुणात्मक प्रकृति (सत्व, रज और तम) को माया कहा गया है।

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 4.10: मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं च महेश्वरम्। और, श्वेताश्वतर उपनिषद् 3.8: तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः । माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ ७-१५॥

7.15. दुष्कर्म करने वाले, मूढ, नराधम, माया द्वारा अपहृत ज्ञान वाले, आसुरी स्वभाव के आश्रित हुए (मनुष्य) मुझे नहीं भजते।

टिप्पणी: अगले 4 श्लोकों में ज्ञानी की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ ७-१६॥

7.16. हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन, चार प्रकार के उत्तम-कर्मा (मनुष्य) मुझ को भजते हैं - पीड़ित, जिज्ञासु, धन के इच्छुक और ज्ञानी।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ ७-१७॥

7.17. उनमें नित्ययोगी, एक (केंद्रित) मन से भक्ति वाला, ज्ञानी विशिष्ट (उत्तम) है, क्योंकि ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे प्रिय है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् । आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ ७-१८॥

7.18. वास्तव में ये सभी उदार (श्रेष्ठ भाववाले – रामसुखदास) हैं परन्तु मेरे विचार में ज्ञानी तो साक्षात् मैं ही हूँ (अर्थात मेरा स्वरूप ही है); क्योंकि वह भक्त (अथवा योगी) आत्मा मुझ सर्वोत्तम गति (धाम) में ही स्थित है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ ७-१९॥

7.19. बहुत जन्मों के बाद ज्ञानी पुरुष "सब कुछ वासुदेव है" (कहते हुए) मुझ को प्राप्त होता (भजता) है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

टिप्पणी: 'वासुदेवः सर्वम्' का अर्थ अपने-अपने मतानुसार शङ्कराचार्य के लिए 'सब कुछ वासुदेव ही है', रामानुजाचार्य के लिए 'वासुदेव ही मेरा सब कुछ (परम प्राप्य, प्रापक और अन्य मनोरथ) है', और मध्वाचार्य के लिए 'वासुदेव ही सब कुछ और पूर्ण' है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः । तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ ७-२०॥

7.20. जिनका ज्ञान जिन जिन भोगों की कामना द्वारा हरा जा चुका है, वे लोग अपने स्वभाव द्वारा नियत उन उन नियमों को धारण करके अन्य देवताओं को भजते हैं।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति । तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ ७-२१॥

7.21. जो जो भक्त जिस जिस स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस उस (भक्त) की श्रद्धा को मैं उसी स्वरूप में (स्थिर) कर देता हूँ।

टिप्पणी: 'तनुं' का अर्थ शङ्कराचार्य के अनुसार 'देवता', रामानुजाचार्य के अनुसार 'देवता-रूप मेरे (श्रीकृष्ण के) शरीर', मध्वाचार्य के अनुसार 'सीमित फलदाता ब्रह्मा आदि रूप' है, जबकि डेवीस के अनुसार इसका अर्थ तिरस्कृत भाव में 'देवता भौतिक जीव मात्र हैं', ऐसा है।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते । लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान् ॥ ७-२२॥

7.22. वह (मनुष्य) उस श्रद्धा से युक्त होकर उस (स्वरूप, देवता) की आराधना में लग जाता है और उससे मेरे द्वारा ही दिये भोगों को प्राप्त करता है।

सन्दर्भ: ब्रह्मसूत्र 3.2.38: फलमतः, उपपत्तेः ॥

टिप्पणी : 'विहितान्हितान्' का पदच्छेद 'विहितान् हितान्' किया गया है जहाँ 'हितान्' का अर्थ 'हित' है। परन्तु शङ्कराचार्य के अनुसार, क्योंकि भोग किसी के लिए भी हितकर नहीं हो सकते, इसलिए उन्होंने 'हितान्' का पदच्छेद 'हि तान्' करके इसका अर्थ 'अवश्य उन्हें' किया है,।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् । देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ ७-२३॥

7.23. परन्तु उन अल्प बुद्धि वालों द्वारा प्राप्त फल नाशवान् है। देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं जबकि मेरे भक्त मुझ को प्राप्त होते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः । परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ ७-२४॥

7.24. बुद्धिहीन मनुष्य मेरे परम, अविनाशी, सर्वोत्तम भाव को न जानते हुए मुझ अव्यक्त को व्यक्ति-भाव को प्राप्त हुआ मानते हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः । मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ ७-२५॥

7.25. अपनी योगमाया से आच्छादित (ढका) हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता। यह मूढ संसार मुझ अजन्मा, अविनाशी को नहीं जानता।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन । भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ ७-२६॥

7.26. हे अर्जुन, जो प्राणी पूर्व में हो चुके हैं और वर्तमान में हैं और आगे होंगे उनको मैं जानता हूँ, परन्तु मुझे कोई नहीं जानता।

सन्दर्भ: मुण्डकोपनिषद् 1.1.9: यः सर्वज्ञः सर्वविद्। कठोपनिषद् 1.2.9: नैषा तर्केण मतिरापनेया। तैत्तिरीयोपनिषद 2.9.1: यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह ।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत । सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥ ७-२७॥

7.27. हे भारत, हे परन्तप, इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होने वाले द्वन्द्व से मोहित हुए सभी प्राणी संसार में अज्ञता (सम्मोह) को प्राप्त हो रहे हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् । ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ ७-२८॥

7.28. परन्तु श्रेष्ठ कर्म करने वाले जिन लोगों का पाप नष्ट हो गया है, वे द्वन्द्व-जनित भ्रम से मुक्त दृढ़निश्चयी मुझको भजते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये । ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ ७-२९॥

7.29. जो मेरे आश्रित होकर जरा (बुढ़ापे) और मरण से मुक्ति के लिये यत्न करते हैं; वे उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को और सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः । प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ७-३०॥

7.30. जो मुझे अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ के स्वामी के रूप में जानते हैं, वे युक्त-चित्त वाले पुरुष मुझे अन्तकाल में भी जानते हैं। (गीता 8.1 से 8.4 तक जारी)

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७॥

अथ अष्टमोऽध्यायः

अक्षरब्रह्मयोगः अथवा तारकब्रह्मयोगः

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा।
किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम । अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ ८-१॥

8.1. हे पुरुषोत्तम, वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसको कहा गया है और अधिदैव किसको कहते हैं ?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन । प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ ८-२॥

8.2. हे मधुसूदन, अधियज्ञ कौन है और यहाँ इस शरीर में कैसे है ? तथा मृत्यु के समय आत्म-संयमित मनुष्यों द्वारा आप किस प्रकार जानने में आते हैं।

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान ने कहा।
अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते । भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ८-३॥

8.3. परम अक्षर (अविनाशी) 'ब्रह्म' है, स्वभाव 'अध्यात्म' कहा जाता है; भूतों को उत्पन्न करने (और बढ़ाने) वाला उद्गम (यज्ञ) 'कर्म' के नाम से जाना गया है।

टिप्पणी: 'परमं' 'अक्षरं' का विशेषण है। 'स्वभाव' की व्याख्या 'प्रत्येक शरीर में अंतरतम स्व' (शंकर), ' स्वयं ब्रह्म का आत्मा के रूप में अस्तित्व में आना' (श्रीधर), 'चेतना का निरंतर प्रवाह' (अभिनवगुप्त), 'ब्रह्म की प्रकृति' (थॉमसन), 'जीव' (माधव), 'चीजों की प्रकृति' (तिलक), 'ब्रह्म की अभिव्यक्ति' (तेलंग), 'अस्तित्व' (हिल) के रूप में की जाती है। । रामानुज के लिए 'अध्यात्म' 'प्रकृति' है, मध्वाचार्य के लिए 'स्व या वह जो स्व को ऊपर उठाता है' और हिल के लिए 'अनिवार्य स्व (व्यक्तियों में स्वयं के रूप में ब्रह्म की उचित अभिव्यक्ति)' है। 'विसर्ग' की व्याख्या 'रचनात्मक शक्ति' या 'उत्सर्जन' (अभिनवगुप्त, थॉमसन, जॉन्सटन) जैसा नासदीय सूक्त में किया गया है, या 'अर्पण या आहुति' (शंकर, श्रीधर, तेलंग)।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् । अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ८-४॥

8.4. अनित्य (उत्पत्ति-विनाशशील) भाव अधिभूत है और पुरुष (हिरण्यगर्भ) अधिदैव है (और) हे देहधारियों में श्रेष्ठ (अर्जुन), इस शरीर में (उपस्थित) मैं स्वयं अधियज्ञ हूँ।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् । यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ८-५॥

8.5. और जो पुरुष अन्तकाल में मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है – इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

सन्दर्भ: भागवत पुराण 1.9.23: भक्त्यावेश्य मनो यस्मिन् वाचा यन्नाम कीर्तयन् । त्यजन् कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ८-६॥

8.6. हे कौन्तेय, (मनुष्य) अन्तकाल में जिस जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, उस उस को ही प्राप्त होता है; सदा उसी भाव से भावित रहने से।

सन्दर्भ: छांदोग्य उपनिषद् 3.14.1: यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य। मुण्डकोपनिषद् 3.1.10: यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं जयते तांश्च कामान्।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च । मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ ८-७॥ or संशयम्

8.7. इसलिये सदैव मेरा स्मरण करो और युद्ध करो । मुझमें अर्पित मन-बुद्धि से युक्त होकर तुम निःसन्देह मुझ को ही प्राप्त होगे।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना । परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८-८॥

8.8. हे पार्थ, अभ्यासयोग से युक्त (और) अन्यत्र न जाने वाले चित्त से चिन्तन करता हुआ (मनुष्य) दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयंसमनुस्मरेद्यः । सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ८-९॥

8.9. जो (मनुष्य) सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करने वाले, अचिन्त्यरूप, सूर्य के सदृश प्रकाशरूप, अँधेरे से अति परे, का स्मरण करता है।

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 3.18: वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ८-१०॥

8.10. मृत्यु के समय अचल (स्थिर) मन से, और भक्ति एवं योगबल से युक्त होकर, भृकुटी के मध्य में प्राण को भली भांति खींचकर, वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥८-११॥

8.11. जिसे वेद के जानने वाले अविनाशी कहते हैं, यत्नशील संन्यासी आसक्तिरहित होकर जिसमें प्रवेश करते हैं, जिसके इच्छुक (लोग) ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस परम पद को मैं तुम्हे संक्षेप से कहूँगा।

सन्दर्भ: कठोपनिषद् 1.2.15: सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च । मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ ८-१२॥

8.12. सब (इन्द्रिय-)द्वारों को संयमित करके तथा मन को हृदय में बन्द करके, अपने प्राण को मस्तक में स्थापित करके, योगधारणा में स्थित होकर;

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ ८-१३॥

8.13. जो (मनुष्य) 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ, मेरा चिन्तन करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है, वह परमगति को प्राप्त होता है ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः । तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ ८-१४॥

8.14. जो निरन्तर अनन्य-चित्त होकर सदा मेरा चिन्तन (ध्यान) करता है, उस नित्य-युक्त योगी के लिये, हे पार्थ, मैं (सहज ही) सुलभ हूँ ।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ ८-१५॥

8.15. परम सिद्धि को प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होने के उपरांत दुःखों के घर एवं अशाश्वत (अस्थायी) पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते ।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ८-१६॥

8.16. हे अर्जुन, ब्रह्मलोक तक सब लोक पुनरावर्ती (दुहराव वाले) हैं । परन्तु, हे कौन्तेय, मुझको प्राप्त होने के उपरांत पुनर्जन्म नहीं होता ।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः । रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ८-१७॥

8.17. जो जानते हैं कि ब्रह्मा का दिन एक हजार युगों तक का (व) रात्रि एक हजार युगों में अंत वाली है, वे मनुष्य दिन-रात (समय-चक्र) को जानने वाले हैं ।

टिप्पणी: ब्रह्मा का दिन ब्रह्मांडीय अभिव्यक्ति का समय है और रात ब्रह्मांडीय विलय (विघटन) का समय है। ब्रह्मा का एक दिन 1,000 युगों के बराबर होता है (जो वास्तव में 4 युगों वाला एक महा-युग है) और एक युग में 12,000 दिव्य वर्ष होते हैं (कलि के लिए 1,200, द्वापर के लिए 2,400, त्रेता के लिए 3,600 और कृत/सत्य के लिए 4,800) और एक दिव्य-दिन एक पृथ्वी-वर्ष के बराबर होता है । इस प्रकार, एक महा-युग 360x12,000 = 43,20,000 पृथ्वी-वर्ष के बराबर होता है। ब्रह्मा का दिन इससे 1,000 गुना बड़ा है और रात भी उतनी ही लंबी है। ब्रह्मा का जीवन काल 100 वर्ष है! (विष्णु पुराण 1.3.8-22 तथा मार्कण्डेय पुराण 46.23-41 में काल गणना का विस्तृत वर्णन है)।

सन्दर्भ : मनुस्मृति 1.73: तद् वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः। रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे । रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ ८-१८॥

8.18. (ब्रह्मा के) दिन के आगमन पर सब (चराचर जगत) अव्यक्त से व्यक्त होते हैं; रात्रि के आगमन पर उसी अव्यक्त नाम वाले में लीन हो जाते हैं।

टिप्पणी: 'अव्यक्त' का अर्थ 'प्रकृति' अथवा ब्रह्मा की नींद (ब्रह्मा की रात्रि) है। 'व्यक्त' इसका विपरीत है।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते । रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ ८-१९॥

8.19. हे पार्थ, यही भूतसमुदाय उत्पन्न हो होकर अवश हुआ रात्रि के आगमन पर लीन हो जाता है (और) दिन के आगमन पर फिर उत्पन्न हो जाता है।

टिप्पणी: 'भूत्वा भूत्वा' का अर्थ बारम्बार क्रमवार 'उत्पत्ति और प्रलय' है। अवश का अर्थ है 'परवश', जिसका अर्थ थॉमसन ने 'अनायास' अर्थात् 'पदार्थ की अपनी कोई इच्छा नहीं हो सकती' ऐसा किया है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः । यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ ८-२०॥

8.20. परन्तु उस अव्यक्त से परे दूसरा एक सनातन अव्यक्त भाव है, वह जो सब भूत-प्राणियों के नष्ट होने पर (भी) नष्ट नहीं होता।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् । यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ८-२१॥

8.21. जो अव्यक्त 'अक्षर' कहा गया है, उसको परम गति कहते हैं; जिसको प्राप्त होकर (मनुष्य) वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है।

सन्दर्भ: कठोपनिषद् 1.3.11: पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परागतिः। और, कठोपनिषद् 2.3.8: अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च । यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया । यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ ८-२२॥

8.22. हे पार्थ, वह परम पुरुष केवल अनन्य भक्ति से प्राप्त होने वाला है; जिसके अंदर (समस्त) प्राणी स्थित हैं, जिससे यह समस्त (जगत) व्याप्त है।

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 6.8: परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च। '

टिप्पणी: अगले चार श्लोक बताते हैं कि कैसे समय और मार्ग के अनुसार जन्म-मरण का चक्र कार्य करता है।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ ८-२३॥

8.23. अब, हे भरतर्षभ, जिस काल में (अथवा, मार्ग से) (शरीर त्यागकर) गये हुए योगी वापस न लौटने वाली (मोक्ष वाली) व लौटने वाली (भोग वाली) भी गति को प्राप्त होते हैं, उस काल (मार्ग) को कहूँगा।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ ८-२४॥

8.24. अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, छह महीने का उत्तरायण - इस (मार्ग, समय नहीं) से गये हुए ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

टिप्पणी : कुछ विद्वान् इस और अगले श्लोक को अंध-विश्वासी (थॉमसन) और संदर्भ से बाहर और सामान्य विषय के विपरीत (डेवीस) बताते हैं। परन्तु ये मार्ग 'देवयान' और 'पितृयान' के नाम से ऋग्वेद और छांदोग्य उपनिषद् 5.10.1-4 में वर्णित हैं।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ ८-२५॥

8.25. धूम्र, रात्रि तथा कृष्णपक्ष, छह महीने का दक्षिणायन - उस (मार्ग) से योगी, चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर (पुनर्जन्म को) वापस आता है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते । एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ ८-२६॥

8.26. वास्तव में जगत के ये दो मार्ग – शुक्ल और कृष्ण (अर्थात् देवयान और पितृयान) – शाश्वत (सनातन) माने गये हैं । एक के द्वारा गया हुआ अनावृत्ति (परमगति) को प्राप्त होता है, दूसरे से फिर आवृत्ति (पुनरागमन, जन्म-मृत्यु) होती है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन । तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ ८-२७॥

8.27. हे पार्थ, इन दो मार्गों को (तत्त्व से) जानकर योगी (व्यक्ति) कभी मोहित नहीं होता। इसलिए, हे अर्जुन, हर समय योग से युक्त हो।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् । अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ ८-२८॥

8.28. वेदों (के पढ़ने में), यज्ञों, तपों और दानों (के करने) में जो पुण्यफल (प्राप्त होना) दिखाया (बताया) गया है, इसे (उपरोक्त दो मार्गों को) जानकर योगी उन सबको पार कर जाता है और सनातन परम पद को प्राप्त होता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८॥

छांदोग्य उपनिषद् 5.10.1-4 (सन्दर्भ – गीता 8.24-25)

तद्य इत्थं विदुः। ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षा-
द्यान्षडुदङ्ङेति मासाꣳस्तान् ॥ ५.१०.१॥

मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥ ५.१०.२॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति
मासाꣳस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥ ५.१०.३॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ॥ ५.१०.४॥

अथ नवमोऽध्यायः

राजविद्याराजगुह्ययोगः

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान ने कहा।
इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे । ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ ९-१॥

9.1. अब मैं तुम दोषदृष्टिरहित को इस परम गोपनीय ज्ञान को विज्ञानसहित कहूँगा, जिसे जानकर तुम अशुभ से मुक्त हो जाओगे।

टिप्पणी: ज्ञान और विज्ञान के लिए गीता 3.41, 6.8, 7.2 भी देखें।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् । प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ ९-२॥

9.2. यह सब विद्याओं का राजा, सब रहस्यों का राजा, पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष बोध वाला, धर्मयुक्त, करने में बहुत सुगम और अविनाशी है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप । अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ९-३॥

9.3. हे परंतप, इस धर्म (ज्ञान, शिक्षा) में श्रद्धा न रखने वाले पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसार मार्ग पर लौटते रहते हैं।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना । मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ९-४॥

9.4. यह सम्पूर्ण जगत मुझ अव्यक्तमूर्ति (निराकार) द्वारा व्याप्त है। सब भूत-प्राणी मुझमें स्थित हैं किन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 6.11: एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी। ईशोपनिषद् 1: ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। पुरुष सूक्त 2.1: पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् । कूर्म पुराण 2.3.7: मया ततमिदं विश्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ कूर्म पुराण 2.4.27: मया ततमिदं कृत्स्नं प्रधानपुरुषात्मकम्। मय्येव संस्थितं विश्वं मया संप्रेर्ययते जगत्॥ कूर्म पुराण 2.6.3: सर्वेषामेव वस्तूनामंतर्यामी पिता ह्यहम्। मध्ये चान्तः स्थितं सर्वं नाहं सर्वत्र संस्थित:॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् । भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ९-५॥

9.5. तो भी भूत-प्राणी मुझ में स्थित नहीं हैं – मेरी ईश्वरीय शक्ति तो देखो ! प्राणियों का धारण-पोषण करने वाला, फिर भी प्राणियों में स्थित नहीं – प्राणियों को उत्पन्न करने वाला मेरा आत्मा।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् । तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ९-६॥

9.6. जैसे सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा आकाश में स्थित रहता है, वैसे ही सम्पूर्ण भूत-प्राणी मुझमें स्थित हैं, ऐसा जानो।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् । कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ९-७॥

9.7. हे कौन्तेय, कल्प के अन्त में सब भूत-प्राणी मेरी अपनी प्रकृति को प्राप्त (अर्थात् लीन) हो जाते हैं; (अगले) कल्प के आरम्भ में उनको मैं फिर रचता हूँ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः । भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ९-८॥

9.8. अपनी प्रकृति को अधीन करके प्रकृति के बल से इस सब भूतसमुदाय को बार-बार बिना उनकी इच्छा के (कर्मानुसार) रचता हूँ।

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 4.10: मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं च महेश्वरम्।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय । उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९-९॥

9.9. और, हे धनञ्जय, वे कर्म मुझ, उन कर्मों में उदासीन की तरह आसक्तिरहित बैठे हुए, को नहीं बाँधते।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् । हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ ९-१०॥

9.10. हे कौन्तेय, मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चराचरसहित जगत को रचती है; इस कारण से यह संसारचक्र घूम रहा है।

सन्दर्भ: ऋग्वेद 10.129.6 (नासदीय सूक्त): को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
श्वेताश्वतर उपनिषद् 6.11: कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् । परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ९-११॥

9.11. मनुष्य-शरीर धारण किये हुए (होने से) मुझ प्राणियों के महेश्वर के परमभाव को न जानने वाले मूढ लोग मेरी अवज्ञा करते हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः । राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ ९-१२॥

9.12. व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म, व्यर्थ ज्ञान वाले (वे) विक्षिप्तचित्त मोहित कर देने वाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति को धारण किये रहते हैं।

टिप्पणी 1: तेलंग के अनुसार 'व्यर्थ आशाओं' का अर्थ 'आशा है कि कोई अन्य देवता उन्हें वह देगा जो वे चाहते हैं', 'व्यर्थ कार्य' का अर्थ 'जो ब्रह्म को अर्पित नहीं किए गए हैं' और 'व्यर्थ ज्ञान' का अर्थ 'मूर्खतापूर्ण संदेहों से भरपूर ज्ञान' है।

टिप्पणी 2: इस श्लोक में 'मोहिनी प्रकृति' का उल्लेख है और अगले श्लोक में 'दैवी प्रकृति' का।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः । भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ ९-१३॥

9.13. परन्तु, हे पार्थ, दैवी प्रकृति के आश्रित महात्माजन मुझको भूतों का आदि (कारण), अव्यय स्वरूप जानकर अनन्य मन से भजते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः । नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ ९-१४॥

9.14. दृढ़ निश्चयी, सदा योग में युक्त रहने वाले, निरन्तर कीर्तन व प्रयत्न करते हुए व मुझे प्रणाम करते हुए मेरी उपासना करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते । एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ ९-१५॥

9.15. और कुछ दूसरे, ज्ञानयज्ञ से यजन (पूजन) करते हुए एकत्व (अभिन्न, अभेद, अद्वैत), पृथक् (भिन्न, भेद, द्वैत) अथवा अनेक अन्य तरीकों से (रूपों में) मुझ विराट्स्वरूप की उपासना करते हैं।

टिप्पणी: शङ्कराचार्य के अनुसार यहाँ तीन प्रकार के उपासक कहे गये हैं (एक अर्थात् ब्रह्म; पृथक जैसे सूर्य, चन्द्रमा आदि; अनेक अर्थात् सभी रूप)। परन्तु रामानुजाचार्य के अनुसार यहाँ एक ही प्रकार के उपासक कहे गये हैं (विभिन्न नामों और रूपों के साथ सभी जीवों में एक परमात्मा)। तेलंग के अनुसार, ज्ञानयज्ञ का अर्थ है 'यह ज्ञान कि वासुदेव ही सब कुछ हैं'।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् । मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ ९-१६॥

9.16. मैं क्रतु (श्रौत-यज्ञ) हूँ, मैं यज्ञ (स्मार्त-यज्ञ) हूँ, मैं स्वधा हूँ, मैं औषधि हूँ, मैं मन्त्र हूँ, घृत भी मैं हूँ, मैं अग्नि हूँ और हवनरूप क्रिया मैं हूँ।

सन्दर्भ : मुण्डकोपनिषद् 2.1.6 तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च । संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः । वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च ॥ ९-१७॥

9.17. इस जगत का पिता, माता, धाता (नियंता, विधाता), पितामह, जानने योग्य, पवित्र, ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद भी मैं हूँ।

सन्दर्भ: कूर्म पुराण 2.9.6: अहं तत् परमं ब्रह्म परमात्मा सनातन: । अकारणम् द्विजा: प्रोक्तो न दोषो ह्यात्मनस्तथा ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् । प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ ९-१८॥

9.18. धाम (लक्ष्य), भर्ता (भरण-पोषण कर्ता), प्रभु, साक्षी, निवास (भोग- स्थल), सहारा, हितैषी, उत्पत्ति, प्रलय, आधार, निधान और अविनाशी बीज (मैं ही हूँ) ।

सन्दर्भ: कूर्म पुराण 2.9.18: एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। तमेवैकम् येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शांति: शाश्वती नेतरेषाम् ॥ श्वेताश्वतर उपनिषद् 6.11 भी देखें.

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च । अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ ९-१९॥

9.19. हे अर्जुन, मैं तपता (तपाता) हूँ, वर्षा को रोकता और बरसाता हूँ, मैं ही अमरत्व और मृत्यु तथा सत्-असत् (कार्य और कारण, स्थूल और सूक्ष्म) हूँ ।

टिप्पणी: 'सत्' और 'असत्' का अर्थ क्रमशः 'कार्य और कारण' (शङ्कराचार्य), वर्तमान और भूत-भविष्य (रामानुजाचार्य), स्थूल और सूक्ष्म (श्रीधर स्वामी), आत्मा और पदार्थ (थॉमसन), अस्तित्व और अस्तित्वहीनता (अभिनवगुप्त), अविनाशी और विनाशशील (तिलक) आदि लिया गया है ।

सन्दर्भ: प्रश्नोपनिषद 2.5: एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥९-२०॥

9.20. तीनों वेदों जानने वाले, सोमरस को पीने वाले, पाप से मुक्त हुए (मनुष्य) मुझ को यज्ञों के द्वारा पूजकर स्वर्ग लोक की प्राप्ति चाहते हैं; वे पुण्य-रूप सुरेन्द्रलोक (स्वर्ग) को प्राप्त होकर स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ ९-२१॥

9.21. वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में प्रवेश करते हैं । इस प्रकार भोगों की कामना से तीनों वेदों में कहे हुए धर्म का पालन करने (आश्रय लेने) वाले (मनुष्य) आवागमन को प्राप्त होते हैं ।

सन्दर्भ: योगवाशिष्ठ 1.1.39: क्षीणे पुण्ये विशन्त्येतं मर्त्यलोकं च मानवाः ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ ९-२२॥

9.22. जो किसी अन्य का चिन्तन न करते हुए मेरी पूजा करते हैं, उन नित्य (निरन्तर) मेरा चिन्तन करने वालों का योगक्षेम मैं दिलाता हूँ ।

टिप्पणी: 'योगक्षेम' का अर्थ मध्वाचार्य के अनुसार 'समभाव और कल्याण' और डेवीस के अनुसार 'आशीर्वाद (कल्याण) का पूर्ण आश्वासन' है। इसके लिए गीता 2.45 भी देखें.

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः । तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ ९-२३॥

9.23. हे कौन्तेय, यहाँ तक की जो श्रद्धासे युक्त भक्त दूसरे देवताओं को पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं, यद्यपि अविधिपूर्वक (अर्थात् कही गयी विधि से भिन्न)।

सन्दर्भ: कूर्म पुराण 2.11.90: ये चान्यदेवताभक्ता: पूजयंतीह देवता:। मद्भावनासमायुक्ता मुच्यन्ते तेऽपि भावतः॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च । न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ ९-२४॥

9.24. क्योंकि मैं सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी भी हूँ; परन्तु वे मुझको तत्त्व से नहीं जानते, इसलिए गिरते हैं (अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं)।

सन्दर्भ: कूर्म पुराण 2.4.8: अहं हि सर्वहविषां भोक्ता चैव फलप्रदः। सर्वदेवतनुर्भूत्वा सर्वात्मा सर्वसंस्थित:॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः । भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ ९-२५॥

9.25. देवताओं के प्रति निष्ठावान देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों के प्रति निष्ठावान पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं, परन्तु मेरा पूजन करने वाले भक्त मुझ को प्राप्त होते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ ९-२६॥

9.26. जो कोई भक्ति–पूर्वक मुझे पत्र, पुष्प, फल, जल (आदि) अर्पण करता है, उस प्रयतात्मा (शुद्ध–बुद्धि, नियतात्मा) द्वारा भक्ति–पूर्वक अर्पण किये हुए को मैं खाता (स्वीकार करता) हूँ।

सन्दर्भ: कूर्म पुराण 2.4.14: पत्रं पुष्पं फलं तोयं मदाराधानकारणात्। यो मे ददाति नियतः स मे भक्तः प्रियो मतः ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ ९-२७॥

9.27. हे कौन्तेय, तुम जो करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान करते हो, जो तप करते हो, वह मुझे अर्पण करने हेतु करो।

टिप्पणी: जीवन के सामान्य कर्म भी यज्ञ-कर्म हैं यदि निःस्वार्थ भक्ति भाव से किये जाएँ।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः । संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ ९-२८॥

9.28. इस प्रकार शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धन से मुक्त हो जाओगे, (व) संन्यासयोग से युक्त चित्त वाले तुम मुक्त होकर मुझे प्राप्त होगे।

सन्दर्भ: मुण्डकोपनिषद् 3.2.6: वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥

टिप्पणी: सन्यास-योग एक ही समय में त्याग और भक्ति है - त्याग क्योंकि 'कोई फल की परवाह नहीं करता' और भक्ति क्योंकि 'यह परम ब्रह्म को अर्पित की जाती है'

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः । ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ ९-२९॥

9.29. मैं सब भूतों में समभाव हूँ; न कोई मेरा अप्रिय है, न प्रिय है; परन्तु जो मुझे भक्ति-पूर्वक भजते हैं, वे मुझ में हैं और मैं भी उनमें हूँ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ९-३०॥

9.30. यदि अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि उसने (मेरे भजन का) सही निश्चय किया है ।

सन्दर्भ: भागवत पुराण 3.33.6: यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद् यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् । श्वादोऽपि सद्य: सवनाय कल्पते। व कूर्म पुराण 2.4.11: अन्येऽपि ये विकर्मस्था: शूद्राद्या नीचजातय: । भक्तिमंत: प्रमुच्यन्ते कालेन मयि संगताः ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति । कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ९-३१॥

9.31. वह तुरंत धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत (स्थायी) शान्ति को प्राप्त होता है । हे कौन्तेय, सत्य जानो कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।

सन्दर्भ: कूर्म पुराण 2.4.12: न मद्भक्ता विनश्यन्ति मद्भक्ता वीतकल्मषा: । आदावेतत् प्रतिज्ञातम् न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ९-३२॥

9.32. हे पार्थ, वे जो पाप–योनि (चाण्डालादि), स्त्री, वैश्य तथा शूद्र भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगति को प्राप्त होते हैं।

सन्दर्भ: कूर्म पुराण 2.4.11: अन्येऽपि ये विकर्मस्था: शूद्राद्या नीचजातय: । भक्तिमंत: प्रमुच्यन्ते कालेन मयि संगताः ॥

टिप्पणी 1: 'पापयोनयः' का अर्थ शंकराचार्य के अनुसार 'पाप से उत्पन्न', श्रीधर स्वामी के अनुसार 'नीच जन्म' और तिलक के अनुसार 'आपराधिक जातियाँ' है।

टिप्पणी 2: यहाँ यह श्लोक थोड़ा असामान्य प्रतीत होता है क्योंकि भगवद्गीता में कहीं और ऐसे सामाजिक नियमों को अनुमोदन नहीं प्राप्त है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह बाद में जोड़ा हुआ हो सकता है, शायद बौद्ध धर्म की स्थापना के बाद जब क्षत्रियों को ब्राह्मणों के समान सामाजिक स्तर प्राप्त हुआ (दिया गया) था (थॉमसन)। शायद
इसीलिए यहाँ वैश्यों को निम्न स्तर पर रखा गया है, जबकि छांदोग्य उपनिषद् 5.10.7 (तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मण-योनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं) उन्हें ब्राह्मणों और क्षत्रियों के साथ रमणीय श्रेणी में रखता है।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा । अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ९-३३॥

9.33. तब पुण्यशील ब्राह्मणों तथा राजर्षि भक्तों का (क्या कहना)! इस तात्कालिक, सुखरहित लोक को प्राप्त होकर तुम मेरा भजन करो।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ९-३४॥

9.34. मुझ में मन वाले हो, मेरे भक्त बनो, मेरा पूजन करो, मुझे नमस्कार करो । इस प्रकार स्वयं को संयमित करके मेरे परायण हुए तुम मुझ को ही प्राप्त होवोगे।

टिप्पणी: इस श्लोक की गीता 18.65 से समानता देखें।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९॥

अथ दशमोऽध्यायः

विभूतियोगः

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान ने कहा ।
भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः । यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १०-१॥

10.1. हे महाबाहो (अर्जुन), फिर से मेरे परम वचन सुनो, जिसे मै तुम अतिशय प्रिय (प्रेमी श्रोता) के हित की इच्छा से कहूँगा ।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः । अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ १०-२॥

10.2. मेरी उत्पति को न देवतागण जानते है, न महर्षि जानते हैं; क्योंकि मै सब प्रकार से देवताओ का और महषियों का आदि हूँ ।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् । असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १०-३॥

10.3. जो मुझ को अजन्मा (जन्मरहित), अनादि (बिना स्रोत) और संसार का महान ईश्वर (के रूप में) जानता है, वह नश्वर प्राणियों में मोहरहित (मनुष्य) सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है ।

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 1.11: ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः। श्वेताश्वतर उपनिषद् 2.15: अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः ।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः । सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ १०-४॥

10.4. बुद्धि, ज्ञान, असम्मूढता, क्षमा, सत्य, इन्द्रियों पर नियंत्रण, शांति (मन का निग्रह), सुख, दुःख, उत्पत्ति, प्रलय व भय, अभय भी;

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः । भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ १०-५॥

10.5. अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश, अपयश – ये भूत–प्राणियों के विभिन्न प्रकार के भाव मुझ से ही (उत्पन्न) होते हैं ।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा । मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ १०-६॥

10.6. सात महर्षि, चार (उनसे) पहले हो चुके और (स्वयम्भुव आदि) मनु – ये मुझ में भाव वाले, मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए थे, जिनसे संसार में ये प्रजा हैं ।

टिप्पणी: इस श्लोक में 'उनसे पहले चार' का अर्थ स्पष्ट नहीं है। इसलिए इनका अर्थ 'चार सनकादि ऋषि' अथवा 'चार वासुदेव (चतुर्व्यूह – श्रीकृष्ण, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) अथवा शंकराचार्य द्वारा बताये गए 'चार मनु' से लिया जाता है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः । सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ १०-७॥

10.7. जो मेरी इस विभूति (विस्तार - शङ्कराचार्य, ऐश्वर्य - रामानुजाचार्य) को और योग शक्ति (मायिक सामर्थ्य - शङ्कराचार्य) को तत्व से जानता है, वह अटल (निश्चल) योग से युक्त हो जाता है; इसमे संशय नहीं है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ १०-८॥

10.8. सबकी उत्पत्ति का कारण मैं हूँ, सब कुछ मुझ से निकलता है (घुमाया जा रहा है, संचालित होते हैं), ऐसा मानकर प्रेम से परिपूर्ण हुए बुद्धिमान् (मनुष्य) मुझे भजते हैं।

टिप्पणी: 'भावसमन्विता' का अर्थ 'परमार्थ तत्त्व की धारणा से युक्त हुए (शङ्कराचार्य), 'अत्यंत स्पृहा से मुझ में तन्मय होकर' (रामानुजाचार्य), 'प्रेम से परिपूर्ण'(तेलंग, हिल), 'ध्यान की शक्तियों से संपन्न' (थॉमसन), 'मेरी प्रकृति जैसे' (डेवीस) आदि है।

सन्दर्भ: ऋग्वेद 10.125.5: यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ गोपालतापिन्युपनिषत् 1.24 : यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो विद्यां तस्मै गोपयति स्म कृष्णः।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् । कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ १०-९॥

10.9. मुझ मे मन लगाए हुए, मुझ में प्राणों को अर्पण किये हुए, आपस मे (एक दूसरे का) ज्ञानवर्धन करते हुए, (भक्तजन) निरन्तर मेरी चर्चा करते हुए संतुष्ट होते हैं और आनन्दित भी होते हैं।

सन्दर्भ: भागवत पुराण 2.1.5: तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १०-१०॥

10.10. उन निरन्तर योग (ध्यान आदि) में लगे हुए, प्रेम पूर्वक भजने वालों को मैं बुद्धियोग (तत्वज्ञान) देता हूँ, जिससे वे मुझ तक पहुंचते हैं।

सन्दर्भ: केनोपनिषद 2.3: यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्। बृहदारण्यक उपनिषद् 3.9.26: स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः । नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ १०-११॥

10.11. उनके ऊपर अनुकम्पा करने के लिए ही मैं उनके अन्तःकरण में स्थित हुआ (उनके) अज्ञानजनित अन्धकार को ज्ञानरूपी प्रकाशमय दीपक के द्वारा नष्ट कर देता हूँ।

टिप्पणी 1: 'आत्मभावस्थ' का अर्थ 'उनके अन्तःकरण में स्थित हुआ' (शङ्कराचार्य), 'उनकी मनोवृत्ति में प्रकट रूप से विराजमान' (रामानुजाचार्य), 'बुद्धि-वृत्ति में स्थित होकर' (श्रीधर), 'अपनी स्थिति में रहते हुए' (थॉमसन), ''उनके हृदय में रहते हुए' (तेलंग), हुआ' 'उनकी आत्मा में रहते हुए' (डेवीस, हिल), आदि किया गया है।

टिप्पणी 2: भागवत पुराण के चतुःश्लोकी (2.9.33-36) के समान भगवद्गीता के पिछले चार श्लोकों (10.8-11) को भी चतुःश्लोकी की संज्ञा दी जाती है; विशेषकर गौड़ीय संप्रदाय से सम्बंधित विद्वानों द्वारा, क्योंकि इन्हें श्रीकृष्ण-भक्ति का सार माना जाता है।

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा।
परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् । पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १०-१२॥

10.12. आप परम ब्रह्म, परम धाम, परम पवित्र, सनातन दिव्य पुरुष, आदिदेव, अजन्मा, सर्वव्यापी हैं।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा । असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १०-१३॥

10.13. सभी ऋषि, देवर्षि नारद तथा असित, देवल, व्यास आपके विषय में (ऐसा ही) कहते हैं और स्वयं आप भी मुझे (यही) बता रहे हैं।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव । न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १०-१४॥

10.14. हे केशव, आप मुझे जो कह रहे हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ । हे भगवन्, आपके स्वरूप को न देवता जानते हैं, न ही दानव।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम । भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १०-१५॥

10.15. हे पुरुषोत्तम, हे भूतभावन, हे भूतेश (भूतेश्वर), हे देवों के देव, हे जगत के स्वामी, आप स्वयं ही अपने से अपने को जानते हैं !

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 3.9: यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः । याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १०-१६॥

10.16. आपको ही अपनी दिव्य विभूतियों को नि:शेष रूप से कहना चाहिए, जिन विभूतियों द्वारा आप इन लोकों में व्याप्त होकर रहते हैं।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् । केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १०-१७॥

10.17. हे योगी (योगेश्वर), मैं कैसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूं और, हे भगवन्, आप किन-किन भावों में मेरे द्वारा चिन्तन करने योग्य हैं ?

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन । भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १०-१८॥

10.18. हे जनार्दन, अपनी शक्ति और विभूति को फिर से विस्तारपूर्वक कहिये; क्योकि आपके अमृतमय (वचनों) को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती ।

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान् ने कहा ।
हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः । प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १०-१९॥

10.19. हे कुरूश्रेष्ठ, निश्चित ही मैं तुम्हें अपनी (केवल) मुख्य, दिव्य विभूतियों को कहूँगा; (क्योंकि) मेरे विस्तार का (कोई) अन्त (सीमा) नहीं है ।

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 1.9: अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता ।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः । अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ १०-२०॥

10.20. हे गुडाकेश, मैं सब भूत-प्राणियों के ह्रदय में स्थित आत्मा हूँ; तथा भूत-प्राणियों का आदि और मध्य व अन्त भी मैं हूँ ।

सन्दर्भ: भागवत पुराण 11.16.9: अहमात्मोद्धवामीषां भूतानां सुहृदीश्वर:। अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्यय: ।
तैत्तिरीयोपनिषद 3.1.1: यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ।

टिप्पणी: अगले 19 श्लोकों में परमात्मा की विभूति का उदाहरणों के साथ वर्णन किया गया है । इन श्लोकों की कूर्म पुराण (ईश्वर- गीता) के श्लोक संख्या 2.7.3 से 2.7.16 के साथ बहुत समानता है ।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् । मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ १०-२१॥

10.21. आदित्यों (अदिति–पुत्रों) में मैं विष्णु हूँ, ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य हूँ; उन्चास मरुतों में मरीचि (वायु) हूँ, नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा हूँ ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः । इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ १०-२२॥

10.22. वेदों में सामवेद हूँ, देवों में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ और भूत-प्राणियों में चेतना (बुद्धि, जीवन शक्ति) हूँ ।

टिप्पणी: सामवेद को इसकी सुन्दर संगीत रचना और ऋग्वेद का सार-तत्व होने के कारण उत्तम स्थान प्राप्त है । इसके लगभग सभी मंत्र ऋग्वेद से आते हैं । छांदोग्य उपनिषद् 1.1.2: ऋचः साम रसः ।

सन्दर्भ: केनोपनिषद 2.2.13: चेतनश्चेतनानाम्।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् । वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ १०-२३॥

10.23. रुद्रों में मैं शङ्कर हूँ, यक्षों और राक्षसों में वित्तेश (कुबेर) हूँ; वसुओं में पावक (अनल, अग्नि) हूँ और पर्वतों में मैं मेरु हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् । सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ १०-२४॥

10.24. और, हे पार्थ, पुरोहितों में मुखिया बृहस्पति मुझको जानो । मैं सेनापतियों में स्कन्द (कार्तिकेय) (और) जलाशयों में समुद्र हूँ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् । यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ १०-२५॥

10.25. मै महर्षियों में भृगु और शब्दों (वाणी) में एकाक्षर (अर्थात् ओंकार) हूँ । यज्ञों में जपयज्ञ और अचल (स्थिर) रहने वालों में हिमालय हूँ।

टिप्पणी: मधुसूदन के अनुसार 'जपयज्ञ' सर्वोत्तम यज्ञ है क्योंकि इसमें हिंसा अथवा हत्या नहीं होती है।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः । गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ १०-२६॥

10.26. मैं समस्त वृक्षों में पीपल और देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ, सिद्धों में कपिल मुनि हूँ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् । ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ १०-२७॥

10.27. मुझे घोड़ों में अमृत के साथ उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवा (नामक घोड़ा), श्रेष्ट हाथियों में ऐरावत (नामक हाथी) और मनुष्यों में राजा जानो।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् । प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ १०-२८॥

10.28. शस्त्रों में मैं वज्र और गौओं में कामधेनु हूँ । (शास्त्रोक्त रीति से) संतान की उत्पति का हेतु कामदेव हूँ व सर्पों में वासुकि हूँ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् । पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ १०-२९॥

10.29. नागों में मैं अनन्त (शेषनाग) और जलचरों में वरुण हूँ। पितरों में अर्यमा हूँ और अनुशासकों में यम मैं हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् । मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ १०-३०॥

10.30. मैं दैत्यों में प्रह्लाद और गणकों में समय हूँ, व पशुओं में मृगराज (सिंह) और पक्षियों में गरुड़ हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् । झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ १०-३१॥

10.31. मैं पवित्र करने वालों में वायु और शस्त्रधारियों में श्रीराम हूँ। मछलियों में मगर हूँ व जल के स्रोतों (नदियों) में गंगा हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन । अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ १०-३२॥

10.32. हे अर्जुन, सर्गों (**सृष्टियों) का आदि और अन्त तथा मध्य भी मै हूँ; मैं विद्याओं में अध्यात्मविद्या और परस्पर विवादकर्ताओं में वाद हूँ।**

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च । अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ १०-३३॥

10.33. मैं अक्षरों में अकार हूँ और समासों में द्वन्द्व (नामक समास) हूँ। अक्षय काल भी मैं हूँ (और) सब ओर मुख वाला (विराट् स्वरूप) धाता (सब का धारण-पोषण करने वाला, नियंता) मैं हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् । कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ १०-३४॥

10.34. मैं सब कुछ हर लेने वाला मृत्यु और भविष्य में होने वालों का उद्भव (उत्पति, स्रोत) हूँ तथा नारियों (नारी–गुणों) में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति (और) क्षमा हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् । मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ १०-३५॥

10.35. इसी प्रकार गायन करने योग्य श्रुतियों में मैं बृहत्साम और छन्दों में गायत्री छन्द हूँ। महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में बसन्त मैं हूँ।

टिप्पणी : बृहत्साम सामवेद वह भाग है जो ऋग्वेद के मंत्र 6.46.1 (त्वामिद्धि हवामहे साता वाजस्य कारवः । त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ॥) से आता है। शङ्कराचार्य के अनुसार यह मंत्र मोक्ष से सम्बंधित है।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् । जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ १०-३६॥

10.36. मैं छल कर्ताओं में जूआ वह तेजस्वियों का तेज (प्रभाव) हूँ । मैं विजय हूँ, मैं व्यवसाय (निश्चय, यत्न) हूँ व सात्विकों का सत्व हूँ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः । मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ १०-३७॥

10.37. वृष्णियों में वासुदेव हूँ, पाण्डवों में धनंजय, मुनियों में व्यास और कवियों में उशना (शुक्राचार्य) कवि मैं हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् । मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ १०-३८॥

10.38. मैं दमन करने वालों का दण्ड (दण्ड–शक्ति) हूँ, जीतने की इच्छा वालों की नीति हूँ, और गुह्य भावों (विषयों) का मौन हूँ और ज्ञानवानों का ज्ञान मैं हूँ ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन । न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ १०-३९॥

10.39. और हे अर्जुन, जो सब भूतों का बीज कारण है, वह भी मै हूँ । ऐसा कोई चर और अचर प्राणी नहीं है, जो मुझसे रहित हो ।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप । एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ १०-४०॥

10.40. हे परंतप, मेरी दिव्य विभूतियों का कोई अन्त नहीं है । विभूतियों का यह विस्तार (वर्णन) तो मेरे द्वारा उदाहरण स्वरूप (अर्थात् संक्षेप से) कहा गया है ।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ १०-४१॥

10.41. जो-जो भी विभूति-(ऐश्वर्य-)युक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस–उस को तुम मेरे तेज के अंश से ही संभव हुआ जानो ।

सन्दर्भ : कूर्म पुराण 2.7.17: यच्चान्यदपि लोकेऽस्मिन् सत्त्वं तेजोबलाधिकम् । तत्सर्वं प्रतिजानीध्वं मम तेजोविजृम्भितम् ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन । विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ १०-४२॥

10.42. परन्तु हे अर्जुन, इस बहुत जानने से तुम्हें क्या प्रयोजन (आवश्यकता) है? मैं इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंश मात्र से धारण करके स्थित हूँ ।

टिप्पणी: एकांश का अर्थ यह नहीं है कि परब्रह्म अंशों (टुकड़ों) में विभाज्य है । वह अविभाज्य है । ऋग्वेद 10.90.3 (पुरुषसूक्त): पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि । छांदोग्य उपनिषद् 3.12.6: पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ।

सन्दर्भ: कूर्म पुराण 2.6.50: बहुनात्र किमुक्तेन म शक्यात्मकम् जगत् । मयैव प्रेर्यते कृत्स्नम् मय्येव प्रलयं व्रजेत् ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १०॥

अथैकादशोऽध्यायः

विश्वरूपदर्शनयोगः

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा ।
मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् । यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ ११-१॥

11.1. मुझ पर अनुग्रह (कृपा) हेतु आपके द्वारा जो परम गोपनीय अध्यात्म नामक वचन (उपदेश) कहा गया है, उससे मेरा यह मोह चला गया है ।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया । त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ ११-२॥

11.2. क्योंकि हे कमलपत्राक्ष, मेरे द्वारा आपसे भूतों की उत्पति और प्रलय तथा आपकी अविनाशी महिमा भी विस्तार से सुने गए हैं ।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर । द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ११-३॥

11.3. हे परमेश्वर, आप अपने को जैसा कहते हैं यदि यह ऐसा ही है तो, हे पुरुषोत्तम, मैं आपके ऐश्वर्य (दिव्य) रूप को देखना चाहता हूँ ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो । योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ११-४॥

11.4. हे प्रभो, यदि आप मानते हैं कि यह मेरे द्वारा देखा जाना संभव है, तो हे योगेश्वर, मुझे अपने अविनाशी स्वरूप का दर्शन कराइये ।

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान ने कहा ।
पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः । नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ११-५॥

11.5. हे पार्थ, मेरे सैकड़ों-हजारों नाना प्रकार के और नाना वर्ण तथा आकृति वाले दिव्य (अलौकिक) रूपों को देखो ।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा । बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ११-६॥

11.6. हे भारत, आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, दोनों अश्विनियों और मरुतों को देखो । बहुत से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपों को (भी) देखो ।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् । मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ ११-७॥

11.7. हे गुडाकेश, आज यहाँ मेरे शरीर में एक जगह स्थित चराचर सहित सम्पूर्ण जगत्, तथा अन्य भी जो देखना चाहते हो, को देखो।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा । दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ११-८॥

11.8. परन्तु तुम मुझे अपने इन (प्राकृत) नेत्रों द्वारा तो नहीं देख सकते। मैं तुम्हें दिव्य चक्षु देता हूँ, (इनसे) मेरी ईश्वरीय शक्ति को देखो।

सञ्जय उवाच । संजय ने कहा।
एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः । दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ११-९॥

11.9. हे राजन्, ऐसा कहकर महायोगेश्वर हरि ने तब पार्थ को (अपना) परम ऐश्वर्य युक्त दिव्य स्वरूप दिखाया।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् । अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ ११-१०॥

11.10. अनेक मुख और नेत्रों से युक्त, अनेक अद्भुत दर्शनों (रूपों) वाले, अनेक दिव्य आभूषणों से युक्त, अनेक (बहुत से) दिव्य शस्त्रों को हाथों में उठाये हुए;

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् । सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११-११॥

11.11. दिव्य माला (और) वस्त्रों को धारण किये हुए, दिव्य गंधों का लेप किये हुए, सब आश्चर्यों से युक्त, अनंत, सब ओर मुख किये हुए (विराट्-स्वरूप) देव;

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता । यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ ११-१२॥

11.12. यदि आकाश में हजार सूर्यों का प्रकाश एक साथ उदय हो जाये, वह शायद उस महात्मा (विराट्-स्वरूप) के प्रकाश के सदृश (समान) हो।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा । अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ ११-१३॥

11.13. अर्जुन ने उस समय वहां एक जगह स्थित सम्पूर्ण जगत् को देवों के देव (श्रीकृष्ण) के शरीर में अनेक प्रकार से विभक्त (बँटा हुआ) देखा।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः । प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ ११-१४॥

11.14. तब वह, धनञ्जय, विस्मययुक्त और रोमांचित हुआ, हाथ जोड़े (हथेलियों की अंजली बनाए) हुए सिर से प्रणाम करके बोला।

टिप्पणी: जो अर्जुन ने देखा और कहा, वह अगले 17 श्लोकों में वर्णित है।

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा।
पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् । ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ ११-१५॥

11.15. हे देव, मै आपके शरीर में सम्पूर्ण देवताओं कों तथा भूतों के विशेष (उल्लेखनीय) समुदायों कों, कमल के आसन पर विराजित भगवान ब्रह्मा को और सम्पूर्ण ऋषियों को व दिव्य सर्पो को देखता हूँ।

टिप्पणी: शङ्कराचार्य के अनुसार 'ब्रह्माणमीशं' का अर्थ 'भगवान ब्रह्मा' परन्तु रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य के अनुसार 'ब्रह्मा और ईश (अर्थात् शिव)' है ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्। नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ ११-१६॥

11.16. हे विश्वेश्वर, आपको अनेक भुजा, पेट, मुख, व नेत्रों से युक्त सब ओर अनन्त रूपों वाला देखता हूँ । हे विश्वरूप, मैं आपके न अन्त को, न मध्य को और न ही आदि को देखता हूँ।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ ११-१७॥

11.17. आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त, सब ओर प्रकाशमान, अनंत तेज के पुञ्ज, कठिनता से दिखने वाले को अग्नि व सूर्य के सदृश सब ओर से अप्रमेय चमक बिखेरते हुए देखता हूँ।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् । त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ ११-१८॥

11.18. आप अक्षर हैं, परम ज्ञातव्य हैं, आप (ही) इस जगत के परम आश्रय हैं। आप अविनाशी (और) धर्म के शाश्वत रक्षक हैं, आप सनातन पुरुष हैं – (ऐसा) मेरा मत है ।

सन्दर्भ: कूर्म पुराण 2.5.35: त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् । त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषोत्तमोऽसि। कठोपनिषद् 1.2.15: सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति। श्वेताश्वतर उपनिषद् 6.17: स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्। पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ ११-१९॥

11.19. आदि, अन्त, और मध्य से रहित, अनन्त सामर्थ्य से युक्त, अनन्त भुजाओं वाले, चन्द्र-सूर्य जिसके नेत्र हैं, प्रज्वलित अग्नि जिसका मुख है, (ऐसे) आपको अपने तेज से इस जगत् को संतप्त करते हुए देखता हूँ।

सन्दर्भ : मुण्डकोपनिषद् 2.1.4: अग्नीर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः। दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ ११-२०॥

11.20. क्योंकि यह पृथ्वी और द्युलोक (स्वर्ग) का बीच व सभी दिशाएँ अकेले आप के द्वारा व्याप्त हैं। हे महात्मा, आपके इस उग्र और अद्भुत रूप को देखकर तीनों लोक व्यथित (विकल, संत्रस्त) हैं।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ ११-२१॥

11.21. वे ही देवताओं के समूह (जो यहाँ योद्धा बने हुए हैं) आप में प्रवेश कर रहे हैं; कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़े आपका गुणगान कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धों के समुदाय 'कल्याण हो' कहकर उत्तम स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं।

टिप्पणी: 'पुष्कलाभि' का अर्थ 'सम्पूर्ण' (शङ्कराचार्य), 'विस्तृत' (रामानुजाचार्य), 'प्रचुर मात्रा में' (हिल) है।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ ११-२२॥

11.22. रूद्र, आदित्य, वसु और ये साध्य गण, विश्वेदेव, अश्विनी कुमार तथा मरुत और उष्मपा (पितरों का समुदाय) तथा गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के समुदाय हैं – वे सब ही विस्मित होकर आपको देख रहे हैं।

टिप्पणी: पुराणों में वर्णित भगवान शिव के नौ गणों (आदित्य, विश्वेदेव, वसु, तुषिता, आभास्वर, अनिल, महाराजिक, साध्य, रूद्र) में से कुछ के नाम यहाँ आए हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् । बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ ११-२३॥

11.23. हे महाबाहो, आपके अनेक मुख और नेत्रों वाले, अनेक हाथ, जंघा और पैरों वाले, अनेक उदरों वाले और अनेक विकराल दाढ़ों वाले महान् रुप को देखकर (सब) लोक और मैं व्यथित (विकल, संत्रस्त) हो रहे हैं।

सन्दर्भ: ऋग्वेद 10.90.1 (पुरुष सूक्त) and श्वेताश्वतर उपनिषद् 3.14: सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ कठोपनिषद् 2.3.3: भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ ११-२४॥

11.24. हे विष्णु, आकाश को स्पर्श करने वाले, अनेक वर्णों (रंगों) से देदीप्यमान, फैलाये हुए मुख (और) देदीप्यमान विशाल नेत्रों से युक्त - आपको इस प्रकार देखकर व्यथित (विकल, संत्रस्त) अन्त:करण वाला मैं न धृति (धीरज, साहस) पा रहा हूँ न (ही) शान्ति।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि । दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ११-२५॥

11.25. और, काल (प्रलय) की अग्नि के समान आपके मुखों की विकराल दाढ़ों को केवल देख कर ही मैं दिशाओं को भूल गया हूँ और सुख (शांति) (भी) नहीं पा रहा हूँ। (इसलिये) हे देवेश, हे जगन्निवास, (आप) प्रसन्न हों।

टिप्पणी: 'कालानल' का अर्थ है 'काल की अग्नि'। कल्प के अंत में अनंत (शेषनाग) की अग्नि से संसार का अन्त होता है।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ ११-२६॥

11.26. और, वे सभी धृतराष्ट्र के पुत्र राजाओं के समुदाय सहित, भीष्म, द्रोण तथा वह सूतपुत्र (कर्ण), हमारे पक्ष के प्रधान योद्धाओं सहित, भी आप में ;

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ ११-२७॥

11.27. आपके विकराल दाढ़ों वाले भयानक मुखों में, तेजी से दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं; कई चूर्ण हुए ऊपरी भागों (सिरों) के साथ आपके दाँतों के बीच फँसे हुए दिख रहे हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ ११-२८॥

11.28. जैसे नदियों के अनेक जलप्रवाह समुद्र की ओर ही अभिमुख होकर तेज गति से बहते हैं, वैसे ही वे नरलोक के वीर भी आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ ११-२९॥

11.29. जैसे पतंगे नष्ट होने के लिये प्रज्वलित अग्नि में अति वेग (तेज गति) से प्रवेश करते हैं, वैसे ही लोक नष्ट होने के लिये आपके मुखों में अति वेग (तेज गति) से प्रवेश कर रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ११-३०॥

11.30. हे विष्णो, आप उन सम्पूर्ण लोकों को प्रज्वलित मुखों द्वारा ग्रास करते हुए सब ओर से चाट रहे हैं; आपकी उग्र दीप्तियाँ सम्पूर्ण जगत को तेज से व्याप्त करके संतप्त कर रही हैं।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ११-३१॥

11.31. मुझे बतायें कि उग्र रूप वाले आप कौन हैं ? हे देववर, आपको नमस्कार हो, आप प्रसन्न हों (कृपा करें)। मैं आप सनातन (आदि पुरुष) को जानना चाहता हूँ क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्ति (स्वभाव, चेष्टा, प्रयोजन) को नहीं जानता।

टिप्पणी: यहाँ 'प्रवृत्ति' का अर्थ 'चेष्टा' (शङ्कराचार्य), 'चेष्टा और वार्ता'(श्रीधर), 'अभिप्राय अथवा प्रयोजन' (रामानुजाचार्य), 'धारण किया हुआ रूप' (डेवीस), 'कार्य में लगना' (हिल), आदि किया गया है।

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान् बोले।
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ११-३२॥

11.32. मैं लोकों का नाश करने वाला प्रवृद्ध (महा, बढ़ा हुआ) काल (मृत्यु, समय) हूँ । लोकों को नष्ट करने के लिये यहाँ आया (प्रवृत हुआ) हूँ । (इसलिए) जो प्रतिपक्षी सेनाओं (दोनों) में स्थित योद्धा लोग हैं, वे सब तुम्हारे बिना भी (यदि तुम नहीं लड़ोगे तो भी) नहीं रहेंगे (अर्थात् मारे जाएँगे)।

टिप्पणी 1: यहाँ 'समाहर्तुम्' का अर्थ 'संहार' (शङ्कराचार्य), 'भक्षण'(मधुसूदन), 'मारने के लिए' (डेवीस और बेसेंट), 'उखाड़ फेंकना' (तेलंग), 'वश में करना' (राधाकृष्णन) किया गया है।

टिप्पणी 2: ऐसा माना जाता है कि जे. रॉबर्ट ओपेनहाइमर (परमाणु बम के जनक) को यह श्लोक याद आया था जब 1945 में संयुक्त राज्य अमेरिका में मैनहट्टन परियोजना के तहत पहला परमाणु परीक्षण किया गया था।

टिप्पणी 3: 'काल' में 'मृत्यु' और 'समय' का दोहरा अर्थ है जैसा कि 'तुम्हारा समय आ गया है' (हिल) जैसे वाक्यांशों में होता है।

सन्दर्भ: कठोपनिषद् 1.2.25: यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ११-३३॥

11.33. इसलिए उठो, यश प्राप्त करो, शत्रुओं को जीत कर धन-धान्य सम्पन्न राज्य को भोगो । क्योंकि ये पहले ही मेरे द्वारा मारे हुए हैं, (अतः), हे सव्यसाचिन्, तुम मात्र निमित्त बन जाओ।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ११-३४॥

11.34. तुम मेरे द्वारा (पहले से ही) मारे हुए द्रोण और भीष्म तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी अन्य युद्धवीरों को मार दो । व्यथित (व्याकुल) मत हो । युद्ध करो, (तुम) युद्ध में शत्रुओं को जीत लोगे ।

सञ्जय उवाच । संजय ने कहा।
एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ११-३५॥

11.35. केशव के यह वचन सुन कर किरीटी (मुकुटधारी, अर्जुन) हाथ जोड़ कर काँपते हुए, नमस्कार करके, भयभीत होकर, प्रणाम करके कृष्ण को गदगद होकर फिर से बोले।

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा।
स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ ११-३६॥

11.36. हे हृषीकेश, उचित ही है कि आपका कीर्तन (गुणगान) करके जगत अति हर्षित और अनुरंजित (अनुराग को प्राप्त) हो रहा है; भयभीत राक्षस दिशाओं में भाग रहे है और सब सिद्ध गणों के समुदाय नमस्कार कर रहे हैं।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे । अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ११-३७॥

11.37. और, हे महात्मन्, वे क्यों न आपको नमन करें (जो) ब्रह्मा से बड़ा (और) आदिकर्ता है ? आप अनन्त, देवेश, जगन्निवास, अक्षर, सत्, असत् और जो उससे परे है, वह हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् । वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ११-३८॥

11.38. आप आदि देव और पुरातन पुरुष हैं, आप इस जगत के परम आश्रय हैं। आप ज्ञाता (जानने वाले) और ज्ञेय (जानने योग्य) और परम धाम हैं । हे अनन्त रूप, यह जगत आप से (व्याप्त, रचित) है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ११-३९॥

11.39. आप वायु, यम,अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति (ब्रह्मा) और प्रपितामह (अथवा पुनः ब्रह्मा) हैं । आपके लिये हजारों बार नमस्कार ! नमस्कार ! बार-बार नमस्कार ! नमस्कार !!!

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व । अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ११-४०॥

11.40. हे सर्वात्मन् (अर्थात् सब कुछ), आपको आगे से और पीछे से नमस्कार, आपको सब ओर से ही नमस्कार ! सामर्थ्य में अनन्त, पराक्रम में असीमित, आप सब में व्याप्त हैं, इससे आप ही सब कुछ हैं।

सन्दर्भ: मुण्डकोपनिषद् 2.2.11: ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् । छांदोग्य उपनिषद् 7.25: स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति ।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं (तवेमं) मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ११-४१॥

11.41. 'सखा हो' ऐसा मानकर, तिरस्कारपूर्वक (बिना सोचे) जो कुछ 'हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे' इस प्रकार मेरे द्वारा, बिना आपकी महानता जाने, प्रमाद के कारण अथवा स्नेह वश आपको कहा गया ;

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु । एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ११-४२॥

11.42. और हे अच्युत, हे अप्रमेय, वह जो (मेरे द्वारा) विनोद (हंसी मजाक) के लिये विहार, शय्या, आसन, और भोजन में, अकेले अथवा दूसरों के सामने भी, आपका अपमान हुआ है, वह सब मैं आपसे क्षमा करवाता हूँ ।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ११-४३॥

11.43. आप इस चराचर जगत् के पिता हैं और आप सबसे बड़े गुरु के रूप में पूजनीय (अथवा, अति पूजनीय गुरु) हैं । हे अनुपम प्रभाव वाले, तीनों लोकों में आपके बराबर भी कोई नहीं है, अधिक तो कैसे हो सकता हैं ।

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 6.8: न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।

टिप्पणी: यहाँ 'गुरुर्गरीयान्' का अर्थ 'बड़े से बड़े गुरु' (शङ्कराचार्य, श्रीधर), 'उस गुरु, अर्थात ब्रह्मा, से भी महत्वपूर्ण' (थॉमसन), 'बहुत अधिक सम्मानित गुरु' (डेवीस, अभिनवगुप्त) किया गया है ।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ११-४४॥

11.44. अतएव हे स्तुत्य (स्तुति, प्रशंसा के योग्य) ईश्वर, मैं दंडवत (साष्टांग) प्रणाम करके आपको प्रसन्न करता (कराता) हूँ । हे देव, पिता जैसे पुत्र के (और) सखा जैसे सखा के (अपराध सहन करते हैं) (वैसे ही) प्रियतम को प्रियतमा के अपराध सहन (क्षमा) करने योग्य हैं ।

टिप्पणी: प्रियायार्हसि = प्रियाय + अर्हसि में प्रियस्य (संबंधवाचक) के स्थान पर प्रियाय (संप्रदान कारक) शब्द का प्रयोग हुआ है और दूसरी पंक्ति में इव शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है ।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे । तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ११-४५॥

11.45. मैं पहले न देखे हुए (रूप) को देखकर हर्षित हो रहा हूँ (और) मेरा मन भय से व्यथित (व्याकुल) (भी) हो रहा है। हे देव, मुझे वही (पहले वाला) रूप दिखलाइये ! हे देवेश, हे जगन्निवास, प्रसन्न होइये।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तं इच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव । तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ११-४६॥

11.46. मैं आपको वैसे ही मुकुट धारण किये हुये, गदा धारण किये हुये, हाथ में चक्र धारण किये हुये देखना चाहता हूँ। हे सहस्रबाहु विश्वमूर्ति, उसी चतुर्भुज रूप में हो जाइये।

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान् ने कहा।
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् । तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ११-४७॥

11.47. हे अर्जुन, मेरे द्वारा प्रसन्न होकर अपनी योग शक्ति से जो यह मेरा परम तेजोमय, सार्वभौमिक, अनंत, आद्य (सबका आदि) रूप तुम्हें दिखलाया गया है, तुमसे अन्य (तुम्हारे अतिरिक्त किसी दूसरे ने) पहले नहीं देखा था।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः । एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ११-४८॥

11.48. हे कुरुप्रवीर, मनुष्य लोक में ऐसे रूप में इस प्रकार विश्व रूप वाला मैं न वेद और यज्ञों के अध्ययन से, न दान से, न क्रियाओं से और न उग्र तपों से ही तुम्हारे अतिरिक्त दूसरे के द्वारा देखा जा सकता हूँ । (गीता 11.53 भी देखें).

टिप्पणी: कुछ विद्वान् 'वेदयज्ञाध्ययन' को तीन अलग शब्दों – वेद, यज्ञ और अध्ययन – का समुच्चय मानते हैं परन्तु कुछ दूसरे विद्वान् इसे एक शब्द मानकर इसका अर्थ 'वेद और यज्ञ का अध्ययन' करते हैं।

सन्दर्भ: कठोपनिषद् 1.2.23 और मुण्डकोपनिषद् 3.2.3: नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्य:।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥११-४९॥

11.49. मेरे ऐसे इस घोर (भयानक) रूप को देखकर तुम व्यथा और मूढ़भाव को मत प्राप्त होवो । निर्भय और प्रसन्नचित्त होकर तुम पुनः मेरे इस पूर्व के (उसी) (रूप) को देखो ।

टिप्पणी: इस श्लोक में श्रीकृष्ण ने फिर से मानवीय रूप धारण कर लिया है क्योंकि वही रूप पहले 'तद' और फिर 'इदम्' कहा गया है। इस प्रकार इस श्लोक में 'तद' से 'इदम्' हो जाता है।

सञ्जय उवाच । संजय ने कहा।
इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः। आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥११-५०॥

11.50. महात्मा वासुदेव ने अर्जुन को ऐसा कहकर फिर स्वयं का (चतुर्भुज) रूप दिखलाया और फिर सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत अर्जुन को धीरज दिया।

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा।
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन । इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ११-५१॥

11.51. हे जनार्दन, आपका यह सौम्य मानुषिक रूप देखकर अब मैं सचेत हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ ।

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान ने कहा।
सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम । देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ११-५२॥

11.52. तुमने मेरा जो (चतुर्भुज) रूप देखा है यह सुदुर्दर्श (देखने में दुर्लभ) है । देवता भी सदा इस रूप के दर्शन की आकांक्षा करते हैं।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ११-५३॥

11.53. मैं न वेदों से, न तपों से, न दान से और न यज्ञ से इस प्रकार देखा जा सकता हूँ, जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है ।

सन्दर्भ: कूर्म पुराण 2.4.2: नाहं तपोभिर्विविधैर्न दानेन न चेज्यया। शक्यो हि पुरुषयैर्ज्ञातुमृते भक्तिमनुत्तमाम्॥ (गीता 11.48 भी देखें).

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ ११-५४॥

11.54. परन्तु हे अर्जुन, हे परंतप अनन्य भक्ति द्वारा मैं इस प्रकार देखा जाना, तत्व से जानना तथा प्रवेश किया जाना शक्य (संभव) हूँ।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ११-५५॥

11.55. हे पाण्डव, जो सम्पूर्ण कर्म मेरे लिये करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूत प्राणियों में वैरभाव से रहित है, वह मुझको प्राप्त होता हैं ।

टिप्पणी: शङ्कराचार्य इस श्लोक (11.55) को समस्त गीता शास्त्र का सारभूत मानते हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

भक्तियोगः

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा ।
एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते । ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १२-१॥

12.1. जो भक्तजन इस प्रकार निरन्तर योग (भक्ति, भजन-ध्यान) में लगे रहकर आप (सगुणरूप, परमेश्वर) को पूजते हैं और (दूसरे) जो अविनाशी, निराकार (निर्गुण, ब्रह्म) को (पूजते हैं) – उन दोनों में उत्तम योगवेत्ता (योगवित्+तम) अर्थात योग को जानने वाला कौन है ?

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान ने कहा ।
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते । श्रद्धया परयोपेताः ते मे युक्ततमा मताः ॥ १२-२॥

12.2. जो मुझमें मन को लगाकर निरन्तर योग (भक्ति, भजन-ध्यान) में लगे रहकर, परम श्रद्धा से युक्त होकर, मुझ (सगुणरूप, परमेश्वर) को पूजते हैं, वे मेरे द्वारा सबसे उत्तम योगी मान्य हैं ।

सन्दर्भ: नारद रचित भक्ति सूत्र 2: सा त्वस्मिन् परप्रेमरूपा ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते । सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलन्ध्रुवम् ॥ १२-३॥

12.3. परन्तु जो अक्षर (अविनाशी), अनिर्देश्य (परिभाषा से परे), अव्यक्त (निराकार), सर्वव्यापी, अचिंत्य (कल्पना से परे), सदा एक रस रहने वाले, अचल, ध्रुव (नित्य, स्थिर) को पूजते हैं;

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः । ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ १२-४॥

12.4. इन्द्रियों के समुदाय को वश में करके, सब में सम भाववाले, वे सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के हित में रत मुझे ही प्राप्त होते हैं ।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ १२-५॥

12.5. उनके लिए क्लेश (कष्ट, विकलता, परिश्रम) अधिक है जिनका चित्त अव्यक्त (निराकार) में आसक्त है । क्योंकि देहधारियों के द्वारा अव्यक्त की प्राप्ति कष्टप्रद है ।

टिप्पणी: ब्रह्म के दो रूप हैं - व्यक्त और अव्यक्त । वेद 'अव्यक्त (निर्गुण) की प्रशंसा' और पुराण 'व्यक्त (सगुण) की प्रशंसा' करते हैं । गीता में यहाँ दोनों की प्रशंसा हुई है परन्तु कहा गया है कि निर्गुण-उपासक को अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है ।

सन्दर्भ: बृहदारण्यक उपनिषद् 2.3.1 और मैत्री उपनिषद् 5.3: द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं ।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः । अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ १२-६॥

12.6. परन्तु जो सम्पूर्ण कर्मों को मुझ में अर्पण करके मेरे परायण रहने वाले मुझ को ही अनन्य योग (भक्ति) से ध्यान करते हुए पूजते हैं;

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ १२-७॥

12.7. हे पार्थ, उन मुझ में चित्त को प्रविष्ट कर देने (लगाने) वालों का मैं शीघ्र मृत्युरूप संसार-सागर से उद्धारक बन जाता हूँ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय । निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ १२-८॥

12.8. मुझ में मन लगाओ और मुझ में ही बुद्धि को लगने दो। तत्पश्चात तुम मुझ में ही निवास करोगे, इसमें संशय नहीं है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् । अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥ १२-९॥

12.9. परन्तु यदि तुम अचल रूप से मन को मुझ में स्थिर करने में सक्षम (समर्थ) नहीं हो तो, हे धनञ्जय, अभ्यास-योग के द्वारा मुझ को प्राप्त करने की इच्छा (प्रयत्न) करो।

टिप्पणी: शङ्कराचार्य के अनुसार मन को सब ओर से बारम्बार खींचकर एक बिंदु पर लगाने का नाम अभ्यास है और उससे युक्त जो समाधानरूप योग है उसका नाम अभ्यासयोग है।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव । मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १२-१०॥

12.10. यदि अभ्यास में भी असमर्थ हो (तो) मेरे लिये कर्म करने (पूजा, भजन, कीर्तन) के प्रति समर्पित हो जाओ। मेरे निमित्त कर्म करते हुए भी तुम सिद्धि को प्राप्त हो जाओगे।

सन्दर्भ: भागवत पुराण 11.11.22: यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम् । मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्ष: समाचर। कूर्म पुराण 1.3.18: यद्वा फलानां संन्यासं प्रकुर्यात् परमेश्वरे। कर्मणामेतदप्याह: ब्रह्मार्पणमनुत्तमम्।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः । सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ १२-११॥

12.11. यदि तुम मेरे योग में आश्रित होते हुए (भी) यह करने में भी असमर्थ हो, तो यतात्मा होकर (स्वयं को वश में करके) सब कर्मों के फल का त्याग कर दो।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते । ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२-१२॥

12.12. अभ्यास (अज्ञानवश किये हुए) से ज्ञान श्रेष्ठ है; ज्ञान से ध्यान अधिक उत्तम है; ध्यान से कर्म-फलों का त्याग श्रेष्ठ है; त्याग के तत्काल उपरांत शान्ति है।

सन्दर्भ: नारद भक्ति सूत्र 25: सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च । निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १२-१३॥

12.13. सब भूतों में द्वेषभाव से रहित, मित्रतापूर्ण और दयालु भी; ममत्व से रहित, अहंकार-मुक्त, सुख-दुःख में सम और क्षमाशील;

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः । मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १२-१४॥

12.14. जो निरन्तर संतुष्ट, योगी, यतात्मा, दृढ़-निश्चय, मुझमें अर्पण किये हुए मन–बुद्धि वाला है – मेरा वह भक्त मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः । हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १२-१५॥

12.15. जिससे संसार उद्वेलित नहीं होता और जो संसार से उद्वेलित नहीं होता; जो हर्ष, अमर्ष (असहिष्णुता), भय, उद्वेग से मुक्त है – वह भी मुझे प्रिय है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः । सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १२-१६॥

12.16. जो अपेक्षा-रहित, शुद्ध, निपुण, पक्षपात-रहित, दुःखों से परे, सब उद्यमों का त्यागी है – मेरा वह भक्त मुझे प्रिय है।

सन्दर्भ: नारद भक्ति सूत्र 35: तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागात् च।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति । शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १२-१७॥

12.17. जो न हर्ष करता है, न द्वेष करता, न शोक करता, न कामना करता है; जो शुभ-अशुभ का त्यागी है, वह भक्तियुक्त मुझे प्रिय है।

सन्दर्भ: नारद भक्ति सूत्र 5: यत्प्राप्य न किञ्चिद् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः । शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १२-१८॥

12.18. (जो) शत्रु में और मित्र में सम है और ऐसा ही मान-अपमान में है; सर्दी–गर्मी, सुख-दुःख में सम है, आसक्ति से रहित है; (गीता 14.24 और 14.25 भी देखें).

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् । अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १२-१९॥

12.19. निन्दा–स्तुति में संतुलित, मौन (मननशील), जो मिल जाए उसी में सन्तुष्ट, अनिकेत (घुमंतू), स्थिरबुद्धि, भक्तिमान है; वह मनुष्य मुझे प्रिय है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं (धर्मामृतम्) यथोक्तं पर्युपासते । श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ १२-२०॥

12.20. जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर कहे हुए के अनुसार अमृतमय धर्म (ज्ञान) अथवा धर्ममय अमृत (ज्ञान) का आदर (पालन, उपासना) करते हैं, वे भक्त मुझे अति प्रिय हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः अथवा प्रकृतिपुरुषविवेकयोगः

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा ।
प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च । एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥ १३-१॥

13.1. हे केशव, प्रकृति और पुरुष, साथ ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय – इसको जानना चाहता हूँ।

टिप्पणी: यह श्लोक भगवद्गीता के कुछ संस्करणों में पाया जाता है और कुछ में नहीं क्योंकि ऐसा माना जाता है कि इसे संदर्भ स्थापित करने के लिए बाद में जोड़ा गया होगा। इसके कारण श्लोकों की संख्या 700 से बढ़कर 701 हो जाती है। इसलिए इस श्लोक को कोई क्रमांक नहीं दिया जाता।

श्रीभगवानुवाच। श्रीभगवान ने कहा।
इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते । एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १३-२॥

13.2. हे कौन्तेय, यह शरीर 'क्षेत्र' नाम से कहा जाता है और जो इसे जानता है, उसके जानने वाले, उसे 'क्षेत्रज्ञ' ऐसा कहते हैं।

टिप्पणी: शरीर क्षेत्र है और आत्मा क्षेत्रज्ञ है।

सन्दर्भ: मैत्री उपनिषद् 2.5: प्रतिपूरुषं क्षेत्रज्ञः (प्रत्येक शरीर में आत्मा क्षेत्रज्ञ है)।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ १३-३॥

13.3. हे भारत, सब क्षेत्रों में (का) क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जानो। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वह ही (यथार्थ) ज्ञान है, (ऐसा) मेरा मत है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् । स च यो यत्प्रभावश्च (यत्स्वभावश्च) तत्समासेन मे शृणु ॥ १३-४॥

13.4. और वह क्षेत्र जो है और जैसा है तथा जिन विकारों से युक्त है और जिस (कारण) से जो (कार्य) हुआ है तथा वह (क्षेत्रज्ञ) जो है और जिस प्रभाव वाला है – वह संक्षेप में मुझसे सुनो।

टिप्पणी : यहाँ 'यतश्च यत्' का अर्थ 'जिस कारण से जो कार्य उत्पन्न होता है' (शङ्कराचार्य), 'जिस प्रयोजन के लिए और जिस स्वरूप वाला' (रामानुजाचार्य), 'किसके द्वारा प्रेरित होता है' **(**मध्वाचार्य), हुआ है।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् । ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ १३-५॥

13.5. ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से और भिन्न-भिन्न विविध छंदों (वेदमन्त्रों) में एवं युक्तियुक्त निर्णायक ब्रह्मसूत्र के पदों में भी गाया गया है।

टिप्पणी: कुछ विद्वानों के अनुसार यहाँ बादरायण के ब्रह्मसूत्र का संदर्भ नहीं है क्योंकि ब्रह्मसूत्र की रचना गीता की रचना के पश्चात् हुई थी और बादरायण को शुद्ध सांख्य का प्रतिपादन करते हुए भी नहीं सोचा जा सकता। इसलिए शङ्कराचार्य ने 'ब्रह्मसूत्रपदै:' का अर्थ 'ब्रह्म के सूचक' किया है। जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् 1.4.7 में 'आत्मेत्येवोपासीत' और बृहदारण्यक उपनिषद् 4.5.11 में 'निःश्वसितमेतद्यद:'। परन्तु रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य ने इसका अर्थ 'शारीरक-सूत्र' अर्थात् 'ब्रह्मसूत्र' ही किया है।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ १३-६॥

13.6. (पंच) महाभूत, अहंकार, बुद्धि व अव्यक्त भी, दस इंद्रियाँ व एक (मन) व पांच इन्द्रिय-विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध);

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः। एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ १३-७॥

13.7. इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देह का पिण्ड, चेतना और धृति, विकारों के सहित यह (सब) संक्षेप में क्षेत्र कहा गया है।

टिप्पणी 1: ये, जिन्हें वैशेषिक आत्मा के मूलभूत गुण कहते हैं, यहाँ मात्र क्षेत्र के गुण बताये गये हैं (न कि क्षेत्रज्ञ के)। ये 31 तत्त्व (24 तत्त्व श्लोक 6 से और 7 तत्त्व श्लोक 7 से) मिलकर भौतिक शरीर (सविकार) की संरचना करते हैं।

टिप्पणी 2: सङ्घात का अर्थ 'देह और इन्द्रियों का समूह' (शङ्कराचार्य), 'समस्त देह का इकट्ठापन' (मध्वाचार्य), 'संयोजित देह' (डेवीस) किया गया है। परन्तु रामानुजाचार्य 'सङ्घातश्चेतनाधृति' का इकट्ठा अर्थ 'चेतन के आधार रूप से उत्पन्न यह भूतसङ्घात' करते हैं। मध्वाचार्य के अनुसार 'चेतना' का अर्थ 'चित्तव्याप्ति' अर्थात् 'मानसिक संकायों का समुच्चय' है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्। आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ १३-८॥

13.8. अभिमान का अभाव, दम्भ का अभाव, अहिंसा, क्षमा (सहिष्णुता), शुचिता (सरलता), आचार्य-सेवा, शुद्धि, स्थिरता और आत्म संयम;

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ १३-९॥

13.9. इन्द्रिय-विषयों से वैराग्य और अहंकार का भी अभाव; जन्म, मृत्यु, जरा, रोग (व) दुःख के दोषों (बुराइयों) की अनुभूति करना।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु। नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ १३-१०॥

13.10. पुत्र, स्त्री, घर आदि की प्राप्ति में एकात्मकता का न होना, आसक्ति का अभाव तथा इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में सदा चित्त की समता।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १३-११॥

13.11. अनन्य योग के द्वारा मुझ में अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त देश में रहने का स्वभाव, मनुष्यों के समुदाय में प्रीति का न होना;

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् । एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ १३-१२॥

13.12. अध्यात्मज्ञान में नित्यता, तत्त्वज्ञान हेतु दार्शनिक विचार करना – यह सब ज्ञान है, ऐसा कहा गया है; जो इससे अन्य है, वह अज्ञान है।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते । अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १३-१३॥

13.13. जो ज्ञेय है (अब) वह कहूंगा जिसे जानकर अमरता का आनन्द मिलता है; जो अनादि परम ब्रह्म, न सत् न असत् कहा गया है।

टिप्पणी: 'अनादिमत् परं' का अर्थ 'अनादि ब्रह्म' (शङ्कराचार्य) और 'अनादि मत्परं' के विच्छेद रूप में 'वह अनादि आत्मा जिसका स्वामी मैं हूँ' (रामानुजाचार्य) किया गया है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३-१४॥

13.14. वह सब ओर हाथ-पैर वाला; सब ओर नेत्र, सिर व मुख वाला; सब ओर कान वाला, संसार में सबको आवृत (व्याप्त) करके स्थित है।

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 3.16: (शब्दशः)। श्वेताश्वतर उपनिषद् 3.3 और ऋग्वेद 10.81.3: विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १३-१५॥

13.15. सम्पूर्ण इन्द्रियों के गुणों से प्रकाशित (परन्तु वास्तव में) सब इन्द्रियों से रहित; आसक्ति रहित परन्तु सब का धारण-पोषण करने वाला: निर्गुण परन्तु गुणों को भोगने वाला।

टिप्पणी: इस श्लोक का प्रथम आधा भाग और श्वेताश्वतर उपनिषद् 3.17 का प्रथम आधा भाग एक समान हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् 3.19 (अपाणिपादो जवनो ग्रहीता) भी देखें।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च । सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १३-१६॥

13.16. चर और अचर भूत–प्राणियों के बाहर व भीतर भी वह सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय है और वह दूर भी स्थित है तथा पास भी।

सन्दर्भ: कठोपनिषद् 1.2.21: आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः। ईशोपनिषद् 5: तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। मुण्डकोपनिषद् 3.1.7: सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् । भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १३-१७॥

13.17. और, भूत–प्राणियों में अविभक्त परन्तु विभक्त रूप से स्थित प्रतीत होता है। और, वह भूतों का धारण पोषण करने वाले के रूप में जानने योग्य है; संहार करने वाला तथा उत्पन्न करने वाला।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते । ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १३-१८॥

13.18. वह ज्योतियों का भी प्रकाश, अँधेरे से परे कहा जाता है । वह – ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञानगम्य (ज्ञान द्वारा प्राप्त करने योग्य) – सबके हृदय में स्थित है।

सन्दर्भ : बृहदारण्यक उपनिषद् 4.4.16: तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्। कठोपनिषद् 2.2.15: तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ श्वेताश्वतर उपनिषद् 3.8: आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः । मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १३-१९॥

13.19. इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय का स्वरूप संक्षेप से कहा गया। मेरा भक्त इसको जान कर मेरे स्वभाव को प्राप्त होता है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि । विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ १३-२०॥

13.20. प्रकृति और पुरुष को भी दोनों को ही अनादि जानो। विकारों को तथा गुणों को भी प्रकृति से उत्पन्न हुए जानो।

टिप्पणी: 'विकारों' का अर्थ 'शरीर और इंद्रियाँ' तथा 'गुणों' का अर्थ 'सुख-दुःख आदि' है। (तेलंग)

कार्यकारणकर्तृत्वे (कार्यकरणकर्तृत्वे) हेतुः प्रकृतिरुच्यते । पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ १३-२१॥

13.21. कार्य और कारण के कर्तृत्व (कार्य-प्रणाली) में प्रकृति को (कपिल आदि ऋषियों द्वारा) हेतु कहा जाता है; सुख-दुःखों के भोक्तापन में पुरुष (जीवात्मा) को हेतु कहा जाता है।

सन्दर्भ: भागवत पुराण 3.26.8: कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः। भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम्।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् । कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ १३-२२॥

13.22. प्रकृति में स्थित होकर ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न गुणों का भोग करता है। गुणों का संग उसके अच्छी और बुरी योनियों में जन्म का कारण है।

सन्दर्भ: भागवत पुराण 3.27.3: तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्यनिर्वृत: । प्रासङ्गिकै: कर्मदोषै: सदसन्मिश्रयोनिषु।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः । परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ १३-२३॥

13.23. उपद्रष्टा (साक्षी) और अनुमन्ता (सम्मति देने वाला), भर्ता (धारण-पोषण करने वाला), भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी - ऐसा इस देह में स्थित परम पुरुष को कहा गया है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह । सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ १३-२४॥

13.24. जो पुरुष को और गुणों सहित प्रकृति को इस प्रकार जानता है, वह किसी प्रकार से कर्म करता हुआ भी फिर नहीं जन्मता।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना । अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ १३-२५॥

13.25. कुछ मनुष्य आत्मा (परमात्मा) को आत्मा (स्वयं) के भीतर आत्मा (मन की आँखों) से ध्यान के द्वारा देखते हैं। दूसरे सांख्ययोग और कुछ दूसरे कर्मयोग के द्वारा (देखते हैं)।

टिप्पणी : आत्मा की प्राप्ति के यहाँ तीन साधन बताये गए हैं - ध्यान, ज्ञान और कर्म। श्रीधर सांख्ययोग का 'कपिल का सांख्य' और 'पतंजलि का योग' के रूप में विश्लेषण करते हैं। तेलंग के अनुसार, सांख्य योग 'यह विश्वास है कि गुण आत्मा से भिन्न हैं, जो उनके कार्यों का केवल एक निष्क्रिय दर्शक है' और कर्म-योग 'ब्रह्म को कार्यों का समर्पण' है।

सन्दर्भ: कूर्म पुराण 2.4.24: ध्यानेन मां प्रपश्यन्ति केचित् ज्ञानेन चापरे। अपरे भक्तियोगेन कर्मयोगेन चापरे।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते । तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ १३-२६॥

13.26. परन्तु अन्य ऐसा न जानते हुए दूसरों से सुनकर उपासना करते है और वे, श्रुति परायण (सुनने में आस्था रखने वाले), भी मृत्यु को तर (लाँघ) ही जाते हैं।

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ १३-२७॥

13.27. हे भरतश्रेष्ठ, जब भी कोई स्थावर (अचल), जंगम (चल) प्राणी उत्पन्न होता है, उसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न जानो।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ १३-२८॥

13.28. जो सब भूत–प्राणियों में परमेश्वर, नश्वर के भीतर अनश्वर, को समभाव से स्थित देखता है, वह (यथार्थ) देखता है।

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 6.11: एको देवः सर्वभूतेषु।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् । न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ १३-२९॥

13.29. क्योंकि सब में समभाव (अखण्ड रूप) से स्थित परमेश्वर को समान देखता हुआ (वह) अपने द्वारा अपना विनाश नहीं करता (कल्याण का मार्ग अपनाता है – तिलक), (और) इसके पश्चात् (वह) परम गति को प्राप्त होता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः । यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ १३-३०॥

13.30. और जो कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति के द्वारा किये जाते हुए देखता है तथा आत्मा को अकर्ता (देखता है), वह (यथार्थ) देखता है।

सन्दर्भ: योगवाशिष्ठ 5.18.22: कर्ता बहिरकर्तान्तर्लोके विहर राघव॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति । तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ १३-३१॥

13.31. जब (मनुष्य) भूत-प्राणियों के अलग–अलग भावों को एक (परमात्मा) में स्थित देखता है तथा उससे ही विस्तार (देखता है), तब वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता हैं।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ १३-३२॥

13.32. हे कौन्तेय, अनादि होने के कारण (और) निर्गुण होने के कारण यह परमात्मा अविनाशी है। शरीर में स्थित होते हुए भी, (वह) न कुछ करता है, न (कर्मों से) लिप्त होता है।

सन्दर्भ: भागवत पुराण 3.27.1: प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः । अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत्।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते । सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ १३-३३॥

13.33. जैसे सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देह में सर्वत्र स्थित आत्मा लिप्त नहीं होता।

सन्दर्भ: कूर्म पुराण 2.2.24: यथा हि धूमसंपर्कान्नाकाशो मलिनो भवेत्। अंत:करणजैर्भावैरात्मा तद्वन्न लिप्यते ।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ १३-३४॥

13.34. हे भारत, जैसे एक सूर्य इस सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्री (परमात्मा) सारे क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 5.4: सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजतेयद्वनड्वान्। एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावान् अधितिष्ठत्येकः। और, ब्रह्मसूत्र 2.3.25: गुणाद्वा लोकवत्।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा। भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ १३-३५॥

13.35. इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को और भूतों की प्रकृति से मुक्ति को जो ज्ञान–नेत्रों द्वारा जानते हैं, वे परम ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

गुणत्रयविभागयोगः

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान ने कहा ।
परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् । यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १४-१॥

14.1. ज्ञानों में भी उत्तम परम ज्ञान को मैं फिर कहूँगा, जिसे जानकर सब मुनि यहाँ (इस शरीर अथवा संसार) से परम सिद्धि को गये (प्राप्त हुए) हैं।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ १४-२॥

14.2. इस ज्ञान को आश्रय (धारण) करके मेरे स्वभाव को प्राप्त हुए (मनुष्य) सृष्टि के आदि में उत्पन्न नहीं होते और प्रलय काल में व्यथित (दुःखी) नहीं होते।

टिप्पणी: 'साधर्म्यम्' का अर्थ 'मेरे साथ एकरूपता' (शङ्कराचार्य), 'मेरी समता को प्राप्त हुए' (रामानुजाचार्य), 'मेरा सार-तत्व' (तेलंग), 'मेरे साथ साहचर्य' (थॉमसन), 'मेरा स्वभाव' (डेवीस, बेसेंट), इत्यादि किया गया है।

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् । सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ १४-३॥

14.3. महत् (महान्) ब्रह्म मेरी योनि (गर्भाधान का स्थान) है, उसमें मैं गर्भ स्थापित को करता हूँ । हे भारत, उससे सब भूतों की उत्पत्ति होती है।

टिप्पणी: यहाँ 'ब्रह्म' शब्द के अर्थ में कठिनता है परन्तु अधिकतर विचारक मुण्डकोपनिषद् 1.1.9 (तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते), छांदोग्य उपनिषद् 8.1.1 (अस्मिन्ब्रह्मपुरे) और मुण्डकोपनिषद् 2.2.7 (दिव्येब्रह्मपुरे) के आधार पर इसके 'प्रकृति' अर्थ से सहमत हैं; जो इस शरीर को ब्रह्म का पुर (धाम) बताते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् 4.10 (मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं च महेश्वरम्) और गीता 14.27 (ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्) भी देखें।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः (मर्तयः) सम्भवन्ति याः । तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ १४-४॥

14.4. हे कौन्तेय, सब योनियों में जो मूर्तियां (शरीरधारी प्राणी) उत्पन्न होती हैं, महत् ब्रह्म उनकी योनि और मै बीज-प्रदाता पिता हूँ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः । निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ १४-५॥

14.5. हे महाबाहो, सत्व, रज, तम - ये प्रकृति से उत्पन्न गुण अविनाशी देही (जीवात्मा) को शरीर में बांधते हैं।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् । सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ १४-६॥

14.6. हे निष्पाप, इन (गुणों) में सत्व (गुण) निर्मल होने के कारण प्रकाश करने वाला और दुःख रहित है, वह सुख के संग के कारण और ज्ञान के संग के कारण (कर्म-फल से) बांधता है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् । तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ १४-७॥

14.7. हे कौन्तेय, कामना व आसक्ति के जनक (या, से उत्पन्न) रजोगुण को रागात्मक जानो । वह देहधारी को कर्मफल द्वारा बांधता है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् । प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ १४-८॥

14.8. परन्तु सब देहधारियों को मोहित करने वाले तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न जानो । हे भारत, वह (देहधारी को) प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बांधता है।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत । ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ १४-९॥

14.9. हे भारत, सत्वगुण सुख में लगाता है, रजोगुण कर्म में, परन्तु तमोगुण तो ज्ञान को ढककर प्रमाद में ही लगाता है।

सन्दर्भ : मनुस्मृति 12.26: सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत । रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १४-१०॥

14.10. हे भारत, रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सत्वगुण होता (बढ़ता) है, वैसे ही सत्वगुण और तमोगुण को दबा कर रजोगुण, वैसे ही सत्वगुण और रजोगुण को दबा कर तमोगुण (बढ़ता है)।

टिप्पणी: तीनों गुण एक साथ रहते हैं और जब दो गुण दब जाते हैं तो तीसरे की प्रधानता हो जाती है। मनुस्मृति 12.25: यो यदेषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते । स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम्।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते । ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ १४-११॥

14.11. जिस समय इस देह में सभी द्वारों से ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न होता है, तब वास्तव में ऐसा जानना चाहिये कि सत्वगुण बढ़ा है।

सन्दर्भ: मनुस्मृति 12.27: तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं किं चिदात्मनि लक्षयेत्। प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत्। भागवत पुराण 11.25.16: यदा चित्तं प्रसीदेत इन्द्रियाणां च निर्वृतिः। देहेऽभयं मनोऽसङ्गं तत् सत्त्वं विद्धि मत्पदम्। भागवत पुराण 11.25.13: यदेतरौ जयेत् सत्त्वं भास्वरं विशदं शिवम् । तदा सुखेन युज्येत धर्मज्ञानादिभिः पुमान् ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा । रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १४-१२॥

14.12. हे भरतर्षभ, लोभ, प्रवृत्ति (कार्यों में लगना), कार्यों का आरम्भ (उद्यम), अशान्ति व विषय-लालसा — ये रजोगुण के बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं।

सन्दर्भ: मनुस्मृति 12.28: यत् तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः । तद् रजो प्रतीपं विद्यात् सततं हारि देहिनाम्। भागवत पुराण 11.25.17: विकुर्वन् क्रियया चाधीरनिवृत्तिश्च चेतसाम् । गात्रास्वास्थ्यं मनो भ्रान्तं रज एतैर्निशामय॥ भागवत पुराण 11.25.14: यदा जयेत्तम: सत्त्वं रज: सङ्गं भिदा चलम्। तदा दु:खेन युज्येत कर्मणा यशसा श्रिया।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च । तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १४-१३॥

14.13. हे कुरुनन्दन, अप्रकाश (अंधकार) और अप्रवृति (अकर्मण्यता), प्रमाद और मोह भी - ये तमोगुण के बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं।

सन्दर्भ: मनुस्मृति 12.29: यत् तु स्यान् मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत्। भागवत पुराण 11.25.18: सीदच्चित्तं विलीयेत चेतसो ग्रहणेऽक्षमम् । मनो नष्टं तमो ग्लानिस्तमस्तदुपधारय ॥ भागवत पुराण 11.25.15: यदा जयेद् रज: सत्त्वं तमो मूढं लयं जडम् । युज्येत शोकमोहाभ्यां निद्रयाहिंसयाशया।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् । तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४-१४॥

14.14. अब, जब देहधारी सत्वगुण की वृद्धि के दौरान मृत्यु को प्राप्त होता है, तब उत्तम (देवों, ऋषियों) के ज्ञाताओं के निर्मल लोकों को प्राप्त होता है।

टिप्पणी: रामानुजाचार्य दूसरे भाग का अर्थ 'वह आत्म-ज्ञानियों में उत्पन्न होता है' करते हैं क्योंकि वे 'प्रतिपद्यते' का अर्थ अगले श्लोक के 'जायते' के समानार्थक करते हैं।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते । तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १४-१५॥

14.15. रजोगुण (की वृद्धि) के समय मृत्यु को प्राप्त होने पर कर्मों में आसक्त मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं; तथा (इसी प्रकार) तमोगुण (की वृद्धि) के समय मृत हुए मनुष्य मूढ़ योनियों में उत्पन्न होते हैं।

सन्दर्भ: भागवत पुराण 11.25.22: सत्त्वे प्रलीना: स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलया: । तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणा:॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् । रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १४-१६॥

14.16. श्रेष्ठ कर्म का फल सात्विक व निर्मल कहा गया है; परन्तु राजस (कर्म) का फल दुःख और तामस का फल अज्ञान (कहा है) ।

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च । प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १४-१७॥

14.17. सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है व रजोगुण से निस्संदेह लोभ। तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान भी उत्पन्न होते हैं ।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः । जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १४-१८॥

14.18. सत्वगुण में स्थित (जन) उच्च लोकों (स्वर्गादि) को जाते हैं; राजस जन मध्य में (मनुष्य लोक) में रहते हैं। जघन्य गुणों (निद्रा, प्रमाद, आलस्यादि) में वृत्ति वाले तामस जन अधोगति (नरक) को प्राप्त होते हैं ।

सन्दर्भ: मनुस्मृति 12.40: देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः । तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः। भागवत पुराण 11.25.21: उपर्युपरि गच्छन्ति सत्त्वेन ब्राह्मणा जना: । तमसाधोऽध आमुख्याद् रजसान्तरचारिण:। और सांख्यकारिका 44: धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति । गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १४-१९॥

14.19. जब द्रष्टा (तीनों) गुणों के अतिरिक्त किसी को कर्ता नहीं देखता और गुणों से परे उस (परमात्मा) को जानता है, तब वह मेरे भाव (स्वरूप) को प्राप्त होता है ।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् । जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ १४-२०॥

14.20. शरीर की उत्पत्ति के कारण इन तीन गुणों को पार करके शरीरधारी जन्म, मृत्यु, वृद्घावस्था और दु:खों से मुक्त हुआ अमरत्व को प्राप्त होता है ।

टिप्पणी: 'गुणान देहसमुद्भवान्' का अर्थ अलग-अलग प्रकार से 'गुणों के कारण उत्पन्न देह' (शङ्कराचार्य, श्रीधर), 'देह के कारण उत्पन्न गुण' (अभिनवगुप्त), 'देह और गुण दोनों साथ साथ उत्पन्न' (थॉमसन) किया गया है।

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा।
कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो । किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ १४-२१॥

14.21. हे प्रभो, किन लक्षणों द्वारा पुरुष इन तीन गुणों से अतीत होता है, कैसे आचरण वाला होता है तथा किस प्रकार इन तीन गुणों से अतीत होता है ?

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान ने कहा।
प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव । न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ १४-२२॥

14.22. हे पाण्डव, जो पुरुष (सत्वगुण के कार्य रूप) प्रकाश को, (रजोगुण के कार्य रूप) प्रवृति को तथा (तमोगुण के कार्य रूप) मोह को भी न तो प्रवृत्त होने पर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा करता है;

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते । गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ १४-२३॥

14.23. जो साक्षी के सदृश स्थित हुआ गुणों के द्वारा विचलित नहीं होता और गुण ही बरत रहे हैं (ऐसा समझता हुआ) स्थिर रहता है और इस प्रकार (उस स्थिति से) हिलता नहीं;

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः । तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ १४-२४॥

14.24. दुःख-सुख में समान भाव वाला, आत्म-भाव में स्थित (शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ), मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समान भाव वाला, प्रिय और अप्रिय को एक सा मानने वाला तथा अपनी निन्दा और स्तुति को एक सा मानने वाला; (गीता 12.18 भी देखें)

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः । सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ १४-२५॥

14.25. जो मान और अपमान में सम है, मित्र और शत्रु पक्ष में सम है; जिसने सम्पूर्ण कार्यों का परित्याग कर दिया (कर्तापन के अभिमान से रहित) है, वह गुणातीत कहा जाता है ।

सन्दर्भ: गीता 12.19 और भागवत पुराण 11.25.22: सात्त्विक: कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजस: स्मृत: । तामस: स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रय: ॥

टिप्पणी: परन्तु गुणातीत कैसे बनें ? भक्ति के द्वारा - जैसा कि अगले दो श्लोकों में वर्णित है । क्योंकि जब मनुष्य सांख्य के द्वैतवाद को पार कर जाता है, तो भक्ति ही उसे गुणों के पार ब्रह्म तक ले जाती है ।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १४-२६॥

14.26. और जो शुद्ध (अमिश्रित) भक्तियोग द्वारा मुझको भजता है, वह इन गुणों को लाँघकर ब्रह्म की प्राप्ति के योग्य बन जाता है । (ब्रह्मभूयाय कल्पते के लिए गीता 18.53 भी देखें) ।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च । शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ १४-२७॥

14.27. वास्तव में मैं (ही) ब्रह्म का आश्रय (आधार) हूँ – (उस) अमृत, अविनाशी, शाश्वत धर्म का और ऐकांतिक (अंतहीन) सुख का (भी) ।

टिप्पणी: 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' बहुत महत्वपूर्ण कथन है जिसका अर्थ श्रीधर के अनुसार 'ब्रह्म की प्रतिमा अर्थात जैसे घनीभूत हुआ प्रकाश ही सूर्यमंडल है वैसे ही घनीभूत हुआ ब्रह्म मैं ही हूँ' और नीलकंठ के अनुसार 'मैं वेदों का अंतिम उद्देश्य हूँ' है । यहाँ 'अहम्' का अर्थ 'प्रत्यगात्मा' (शङ्कराचार्य) अथवा निरुपाधिक ब्रह्मरूप' (मधुसूदन) है और 'ब्रह्म' का अर्थ 'परमात्मन्' (शङ्कराचार्य), आत्मा' (रामानुजाचार्य), माया (मध्वाचार्य), वेद (नीलकंठ) अथवा 'सोपाधिक ब्रह्म' (मधुसूदन) किया गया है ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

पुरुषोत्तमयोगः

श्रीभगवानुवाच । श्री भगवान ने कहा ।
ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १५-१॥

15.1. ऊपर की ओर मूल (जड़) वाले और नीचे की ओर शाखा वाले अविनाशी अश्वत्थ (पीपल) के विषय में कहा जाता है जिसके पत्ते वेद-मंत्र हैं। जो उसे (यथार्थ में) जानता है, वह वेद (के तात्पर्य) को जानने वाला है ।

सन्दर्भ: कठोपनिषद् 2.3.1: ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तैत्तिरीय आरण्यक 1.11.52: ऊर्ध्वमूलमवाक्छाखम् । वृक्षं यो वेद सम्प्रति । न स जातु जनः श्रद्दध्यात् । मृत्युर्मा मारयादितिः ।

टिप्पणी: यहाँ अश्वत्थ का अर्थ 'सदैव परिवर्तनशील' अथवा 'संसार रूप वृक्ष' किया गया है। अगले श्लोक में इसी अश्वत्थ वृक्ष का सांख्य के परिपेक्ष्य में वर्णन किया गया है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः । अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ १५-२॥

15.2. उसकी गुणों के द्वारा पोषित, विषयों (भोग की वस्तुओं) के द्वारा वर्धित (विकसित) शाखाएँ नीचे और ऊपर फैली हुई हैं तथा जड़ें मनुष्य लोक में, बंधन में बांधने वाले कर्मों के रूप में, नीचे व्याप्त हो रही हैं ।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा । अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलं असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ १५-३॥

15.3. इस संसार में इस वृक्ष का स्वरूप जैसा कहा है, वैसा नहीं पाया जाता; न अन्त, न आदि और स्थिति। इस अति दृढ मूलों वाले अश्वत्थ को असङ्ग (वैराग्य) रूपी शस्त्र द्वारा काट कर;

टिप्पणी: 'सम्प्रतिष्ठा' का तात्पर्य 'आदि और अन्त के बीच की अवस्था' (शङ्कराचार्य); 'अनात्मा में आत्माभिमान रूप अज्ञान' (रामानुजाचार्य); सहारा (डेवीस, तेलंग); संरचना (थॉमसन); आधार (हिल); इत्यादि है।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः । तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ १५-४॥

15.4. उसके पश्चात् उस परम पद को खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए (मनुष्य) फिर लौट कर संसार में नहीं आते – (यह कहते हुए कि) "मैं उसी आदि पुरुष के शरण हूँ जिससे यह पुरातन प्रवृति विस्तार को प्राप्त हुई है" ।

टिप्पणी: प्रपद्ये का तात्पर्य 'शरण में जाना' (शङ्कराचार्य); 'लक्ष्य करना' (डेवीस); 'पहुँचना' (हिल) इत्यादि है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ १५-५॥

15.5. मान और मोह से मुक्त, आसक्ति रूप दोष को जीत चुके, अध्यात्म में नित्य स्थित, कामनाओं से मुक्त, सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त ज्ञानी जन उस अविनाशी परम पद को प्राप्त होते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः । यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ १५-६॥

15.6. उस को न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा, न अग्नि; जहाँ पहुँचने के उपरांत (मनुष्य) लौट कर नहीं आते, वह मेरा परम धाम है ।

सन्दर्भ: कठोपनिषद् 2.2.15, मुण्डकोपनिषद् 2.2.10, श्वेताश्वतर उपनिषद् 6.14: न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । कूर्म पुराण 2.10.13: न तत्र सूर्य: प्रविभातीह चंद्रौ न नक्षत्राणि तपनो नोत विद्युत। तद्भासेदम-खिलम् भाति नित्यं तन्नित्यभासमचलं सद्विभाति ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ १५-७॥

15.7. मेरा ही सनातन अंश इस जीवलोक में जीवभूत होकर प्रकृति में स्थित इन्द्रियों को मन रूपी छठी इन्द्रिय सहित आकर्षित करता है ।

टिप्पणी: यहाँ 'प्रकृतिस्थानि' का तात्पर्य 'कर्णछिद्रादि अपने-अपने गोलकरूप प्रकृतियों में स्थित' (शंकराचार्य) 'प्रकृति के परिणाम रूप देव-मनुष्यादि शरीर में स्थित' (रामानुजाचार्य) इत्यादि किया गया है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः । गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ १५-८॥

15.8. ईश्वर (देही, जीवात्मा) जब शरीर को प्राप्त होता है और जब शरीर का त्याग करता है, वह इन (मन सहित इन्द्रियों) को ग्रहण करके साथ ले जाता है; ठीक वैसे ही जैसे वायु गन्ध को उसके (गन्ध के) स्थान से ले जाता है ।

सन्दर्भ: ब्रह्मसूत्र 3.1.1: तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः।

टिप्पणी 1: सूक्ष्म शरीर भौतिक, मानसिक और बौद्धिक संकायों से बनता है, जो स्थूल शरीर को मृत अवस्था में पीछे छोड़कर निकल जाता है और आत्मा के साथ-साथ लौकिक जीवन में विचरता है।

टिप्पणी 2: कौशितकि उपनिषद् (अध्याय 3) में इसे और विस्तार से बताया गया है। सन्दर्भ 3.4: स यदास्माच्छरी-रादुत्क्रामति वागस्मात्सर्वाणि नामान्यभिविसृजते वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति प्राणोऽस्मात्सर्वान्गन्धानभिविसृजते प्राणेन सर्वान्गन्धानाप्नोति चक्षुरस्मात्सर्वाणि रूपाण्यभिविसृजते चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति श्रोत्रमस्मात्सर्वाञ्छब्दानभिविसृजते श्रोत्रेण सर्वाञ्छब्दानाप्नोति मनोऽस्मात्सर्वाणि ध्यातान्यभिविसृजते मनसा सर्वाणि ध्यातान्याप्नोति सैषा प्राणे सर्वाप्तिर्यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः स ह ह्येतावस्मिञ्छरीरे वसतः सहत्क्रामतः। जब वह शरीर से अलग हो जाता है, तो

वाणी सभी नामों को उसमें डाल देती है; वाणी से वह सभी नाम प्राप्त कर लेता है। प्राण सारी गंधें उसमें डाल देती है; सांस के साथ वह सभी गंधों को प्राप्त करता है। आंख सभी रूपों को उसमें डाल देती है; आँख से वह सभी रूपों को प्राप्त कर लेता है। कान सारी ध्वनियाँ उसमें डाल देता है; कान से वह सभी ध्वनियाँ प्राप्त करता है। मन सारे विचार उसमें डाल देता है। मन से वह सभी विचारों को प्राप्त करता है। यह प्राण में सर्व-प्राप्ति है। जहाँ तक प्राण की बात है, वस्तुतः वही प्रज्ञा है। जहाँ तक प्रज्ञा का प्रश्न है, वस्तुतः वही प्राण है; क्योंकि ये दोनों मिलकर इस शरीर में निवास करते हैं; दोनों एक साथ प्रस्थान करते हैं।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च । अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ १५-९॥

15.9. यह (ईश्वर, जीवात्मा) श्रोत्र, चक्षु और त्वचा को (तथा) रसना और घ्राण (सूँघना) को भी, और मन को आश्रय (आधीन) करके विषयों का सेवन करता है ।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् । विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १५-१०॥

15.10. (शरीर को) छोड़ कर जाते हुए को अथवा (शरीर में) स्थित हुए को अथवा तीनों गुणों से युक्त होकर विषयों को भोगते हुए (उस ईश्वर, जीवात्मा) को अज्ञानी जन नहीं देख पाते (जानते), केवल ज्ञान रूप नेत्रों वाले ही देख (समझ) पाते हैं ।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् । यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ १५-११॥

15.11. यत्न में लगे हुए योगी जन भी अपने हृदय में स्थित इसे देख (समझ) पाते हैं; परन्तु जिन्होंने अपना मन (अन्तःकरण, शरीर) शुद्ध नहीं किया है, वे अज्ञान के कारण यत्न करते रहने पर भी इसे नहीं देख पाते ।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १५-१२॥

15.12. सूर्य में स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है तथा जो चन्द्रमा में है और जो अग्नि में है, उस तेज को तू मेरा (तेज) जान ।

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 2.17: यो देवो अग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।

टिप्पणी: तेलंग के अनुसार, 'गीता का श्लोक 15.12 श्लोक 15.6 की निरंतरता में है और बीच के श्लोक यह बताते हैं कि कुछ मामलों में आत्माएं कैसे वापस आती हैं'।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा । पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १५-१३॥

15.13. और मैं पृथ्वी में प्रवेश करके अपने ओज (ऊर्जा, शक्ति) से सब प्राणियों को धारण (पालन) करता हूँ और रसमय चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण औषधियों (वनस्पतियों) को पुष्ट करता हूँ ।

टिप्पणी: आनंदगिरि और मधुसूदन द्वारा पृथ्वी में प्रवेश की व्याख्या 'पृथ्वी देवी के रूप में प्रवेश' के रूप में की गई है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः । प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १५-१४॥

15.14. मैं वैश्वानर (पाचक अग्नि) बनकर, प्राणियों के शरीर में रहते हुए, प्राण व अपान से संयुक्त होकर, चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ ।

सन्दर्भ: बृहदारण्यक उपनिषद् 5.9.1: अयमाग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते। कूर्म पुराण 2.6.17: भुक्तमाहारजातं च पचते तदहर्निशम्। वैश्वानरोऽअग्निर्भगवानीश्वरस्य नियोगतः।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च । वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५-१५॥

15.15. मैं ही सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ, मुझसे (ही) स्मृति, ज्ञान और अपोहन (इनका नाश, अथवा तर्क–बुद्धि) हैं । मैं ही सम्पूर्ण वेदों के द्वारा जानने योग्य हूँ । वेदान्त का रचयिता और वेदों का ज्ञाता भी मैं हूँ ।

सन्दर्भ: कैवल्य उपनिषद 1.22: वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।

टिप्पणी: 'अपोहनम्' का तात्पर्य 'लोप' (शङ्कराचार्य, श्रीधर); 'ज्ञान की निवृत्ति' (रामानुजाचार्य); तर्कशक्ति (थॉमसन, डेवीस); 'शंका निवारण' ((हिल) आदि है । 'वेदान्तकृत्' का अर्थ 'वेदान्त का कर्ता' (शङ्कराचार्य, थॉमसन); 'वेदोक्त फल का प्रदाता' (रामानुजाचार्य) आदि है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १५-१६॥

15.16. इस संसार में दो प्रकार के पुरुष हैं – नाशवान् और दूसरा अविनाशी । सम्पूर्ण भूत प्राणी नाशवान् हैं (जबकि) कूटस्थ (सबके हृदय में स्थित) को अविनाशी कहा जाता है ।

टिप्पणी 1: बलदेव विद्याभूषण के अनुसार 'लोके' का अर्थ 'वेद' है क्योंकि वेद में दो प्रकार के पुरुष का वर्णन है। जैसे, मुण्डकोपनिषद् 3.1.1 और श्वेताश्वतर उपनिषद् 4.6: द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

टिप्पणी 2: 'कूटस्थ' का तात्पर्य 'माया' (शङ्कराचार्य, मधुसूदन), 'मुक्तात्मा' (रामानुजाचार्य), 'चेतन भोक्ता अथवा अक्षर पुरुष' (श्रीधर) आदि किया गया है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १५-१७॥

15.17. परन्तु (इन दोनों से) उत्तम पुरुष तो कोई और (ही) है, जो परमात्मा कहा गया है; जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में प्रवेश करके (सबका) धारण-पोषण करता है ।

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 1.9: ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृ भोग्यार्थयुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्। श्वेताश्वतर उपनिषद् 6.11 भी देखें।

टिप्पणी: ये दोनों वस्तुओं, जैसी वे दिखाई देती हैं, का संपूर्ण संग्रह और उनका भौतिक कारण है। सर्वोच्च सत्ता एक तीसरा सिद्धांत है। (तेलंग)

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १५-१८॥

15.18. क्योंकि मैं नाशवान् (वर्ग) से अतीत हूँ और अविनाशी से भी उत्तम हूँ, इसलिये लोक (स्मृति) में और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ ।

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 1.12: एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्। मुण्डकोपनिषद् 2.1.2: अक्षरात्परतः परः।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १५-१९॥

15.19. हे भारत, जो अज्ञान-रहित होकर मुझ पुरुषोतम को इस प्रकार जानता है, वह सर्वज्ञ सब प्रकार से मुझे ही भजता है ।

टिप्पणी: ‘सर्वभावेन’ का तात्पर्य ‘सभी भावों से’ (रामानुजाचार्य, श्रीधर), ‘सब का आत्मा समझकर (शङ्कराचार्य), ‘अपने सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ’ (हिल), ‘जीवन के किसी भी हालात में’ (थॉमसन) इत्यादि है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ । एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ १५-२०॥

15.20. हे निष्पाप (अर्जुन), इस प्रकार यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया, इसको तत्व से जान कर मनुष्य ज्ञानवान् और कृत-कृत्य (पूर्णकाम, आप्तकाम) हो जाता है ।

टिप्पणी: ‘कृतकृत्य:’ की व्याख्या इस प्रकार की गई है - 'जिसके सभी कर्तव्य (कार्य) पूरे हो गए हैं' (शंकर, रामानुज), 'उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं बचा है' (आनंदगिरि), 'उसने वह सब कर लिया है जो उसे करना चाहिए' (तेलंग) और 'वह अपना कर्तव्य निभाएगा' (थॉमसन)।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५॥

अथ षोडशोऽध्यायः

दैवासुरसम्पद्विभागयोगः

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान ने कहा।
अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः । दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १६-१॥

16.1. भय का अभाव, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान और योग में निरन्तर दृढ़ता, दान और दम और यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता ;

टिप्पणी: 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' का तात्पर्य है 'ज्ञान और योग में निरन्तर स्थिति' (शङ्कराचार्य), 'ज्ञानयोग में सब प्रकार से निष्ठा' (श्रीधर), 'ज्ञान और योग का उचित अनुपात (सम्मिश्रण)' (तिलक), ज्ञानार्जन में निरंतर ध्यान' (हिल), इत्यादि।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् । दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १६-२॥

16.2. अहिंसा (किसी को कष्ट न देना), सत्यता, क्रोध न करना, त्याग, शान्ति, किसी की निन्दा न करने की प्रवृत्ति (आदत), प्राणियों के प्रति दया भाव, लोलुपता (लालच) का अभाव, कोमलता, आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव ;

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता । भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ १६-३॥

16.3. तेज, क्षमा, धैर्य, शुद्धि, (किसी के प्रति) शत्रु भाव न होना और अत्यधिक अभिमान का अभाव - हे भारत, ये सब दैवी सम्पदा के साथ उत्पन्न हुए (मनुष्य) के लक्षण हैं ।

सन्दर्भ: नारद भक्ति सूत्र 78: अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचरित्राणि परिपालनीयानि।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च । अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ १६-४॥

16.4. दम्भ, घमण्ड और अभिमान, तथा क्रोध और कठोरता भी और अज्ञान भी – हे पार्थ, ये सब आसुरी सम्पदा के साथ उत्पन्न हुए मनुष्य के लक्षण हैं।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता । मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ १६-५॥

16.5. दैवी सम्पदा मोक्ष के लिये और आसुरी (सम्पदा) बंधन के लिये मानी गयी है । (परन्तु) हे पाण्डव तुम शोक मत करो, क्योंकि तुम दैवी सम्पदा के साथ उत्पन्न हुए हो ।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च । दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ १६-६॥

16.6. हे पार्थ, इस लोक में दो प्रकार के सृजित जीव हैं - दैवी और दूसरे आसुरी । दैवी को विस्तार पूर्वक कहा जा चुका है, (अब) आसुरी को मुझ से सुनो ।

सन्दर्भ: बृहदारण्यक उपनिषद् 1.3.1: द्वया ह प्राजापत्याः, देवाश्चासुराश्च।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः । न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ १६-७॥

16.7. आसुरी (स्वभाव वाले) मनुष्य न तो प्रवृत्ति और न निवृत्ति जानते हैं । उनमें न शुद्धि, न श्रेष्ट आचरण, न ही सत्यता विद्यमान् होता है ।

टिप्पणी: 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' का तात्पर्य क्रमशः 'कर्तव्य कर्म करना' और 'अनर्थकारक कर्म न करना' (शङ्कराचार्य); 'कहाँ से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है और कहाँ विलय हो जाएगी' (अभिनवगुप्त); 'सृष्टि और अंत' (डेवीस); 'कार्य और अकार्य' (हिल) आदि किया गया है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् । अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ १६-८॥

16.8. वे कहा करते हैं कि जगत् असत्य, अप्रतिष्ठ (बिना आधार), ईश्वर रहित, अपने आप (बिना पूर्व निर्धारित उद्देश्य, केवल स्त्री-पुरुष के संयोग) से उत्पन्न हुआ है, काम (वासना) के अतिरिक्त इसका और क्या कारण हो सकता है ?

टिप्पणी 1: यह नास्तिकों और भौतिकवादियों का मत है जो वेदान्त (जैसे तैत्तिरीयोपनिषद 2.1: आत्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योन्नम्। अन्नात्पुरुषः।) और सांख्य (जैसे: क्रमवार पुरुष से प्रकृति से व्यक्त पदार्थ, इत्यादि) के दर्शन को नकारते हैं। नास्तिक और भौतिकवादि सृष्टि की रचना में किसी भी प्रकार के क्रम को नहीं मानते।

टिप्पणी 2: 'असत्यम्' का तात्पर्य है 'संसार में कुछ सत्य नहीं है अथवा सत्य समझने योग्य नहीं है जैसे कि वेद' (तेलंग); श्रुतियों की सत्यता विश्वासयोग्य नहीं है' (हिल)।

टिप्पणी 3: 'अप्रतिष्ठं' का तात्पर्य है 'बिना किसी मान्य आधारयुक्त' जिसका संसार चालन के कार्य में गुण-दोष के परिपेक्ष्य में कोई नैतिक आधार नहीं है (तेलंग, ऐसे ही हिल)। 'सृष्टि का कोई रचयिता नहीं है (अनीश्वरम्) अर्थात् इसकी रचना में किसी प्रकार का क्रम अथवा उद्देश्य नहीं है' (थॉमसन); 'ब्रह्म में प्रतिष्ठित है, ऐसा नहीं कहते' (रामानुजाचार्य)।

टिप्पणी 4: शंकराचार्य के अनुसार 'अपरस्परसम्भूतं कामहैतुकम्' का तात्पर्य है 'कामेच्छा से प्रेरित स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है'। 'किमन्यत्' का तात्पर्य है 'दूसरा कारण और क्या हो सकता है?' (शंकराचार्य), 'इसके अतिरिक्त दूसरा क्या दीखता है?' (रामानुजाचार्य) इत्यादि।

सन्दर्भ: विष्णु पुराण 3.18.17: जगदेतदनाधारं भ्रांतिज्ञानार्थतत्परम्। रागादिदुष्टमत्यर्थं भ्राम्यते भवसङ्कटे॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः । प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ १६-९॥

16.9. इस (मिथ्या) विचार के सहारे, ये मन्द बुद्धि, नष्ट आत्माएं, क्रूरकर्मी, जगत् के शत्रु, विनाश के लिये उत्पन्न होते हैं ।

टिप्पणी: अहिताः का तात्पर्य है 'हित नहीं चाहने वाले' अथवा 'किसी के भी हित के लिए नहीं' । 'क्षयाय जगतो' का अर्थ 'संसार का विनाश' भी समझ सकते हैं, जिसका तात्पर्य है 'संसार की सामान्य व्यवस्था ,स्थायित्व और भले के विरुद्ध' अथवा बलदेव विद्या-भूषण के अनुसार 'लोगों को परमार्थ से दूर ले जाना (परमार्थाज्जगद्भ्रंशयन्तिः) ।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः । मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १६-१०॥

16.10. किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं के आश्रित, वे दम्भ और मान के मद में चूर (मनुष्य), मोह वश मिथ्या सिद्धांतों को ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणों (जैसे, धन अर्जित करने के लिए कर्मकांड) को धारण करके कार्य करते हैं ।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः । कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ १६-११॥

16.11. तथा मृत्यु पर्यन्त असंख्य चिन्ताओं से घिरे हुए, विषय भोग में लगे रहने वाले, और 'यही सब कुछ है' समझकर आश्वस्त रहते हैं।

टिप्पणी: बृहस्पति सूत्र : काम एवैकः पुरुषार्थ: (श्रीधर) ।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः । ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १६-१२॥

16.12. आशा की सैकड़ों रस्सियों से बँधे हुए, काम (और) क्रोध के परायण होकर, वे विषय भोगों के लिये अन्याय-पूर्वक धन-संग्रह का प्रयास करते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् । इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १६-१३॥

16.13. (कहते हुए कि) "यह आज मेरे द्वारा प्राप्त कर लिया गया है और इस मनोरथ को प्राप्त कर लूंगा। यह धन (मेरा) है और फिर यह (अन्य) भी हो जायगा।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि । ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १६-१४॥

16.14. यह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और दूसरों (अन्य शत्रुओं) को भी मार डालूंगा । मैं ईश्वर हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं सिद्ध हूँ, बलवान् तथा सुखी (भी हूँ) ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया । यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १६-१५॥

16.15. मैं धनवान (व) अभिजात्य (उच्च कुल में जन्मा) हूँ । मेरे समान (जैसा) अन्य (दूसरा) कौन है ? यज्ञ करूँगा, दान दूंगा, आमोद-प्रमोद करूँगा; - इस प्रकार अज्ञान से मोहित रहने वाले ;

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः । प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६-१६॥

16.16. अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले, मोह के जाल में उलझे हुए (व) विषय भोगों में आसक्त (लोग) अपवित्र नरक में गिरते हैं।

सन्दर्भ: मुण्डकोपनिषद् 1.2.9: अविद्यायं बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः । यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः । यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १६-१७॥

16.17. स्वयं को श्रेष्ट मानने वाले वे हठी, धन व मान के घमंड में चूर होकर, पाखण्ड से शास्त्रविधि रहित केवल नाम के यज्ञ करते हैं।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः । मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १६-१८॥

16.18. वे अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोध के परायण, दूसरों की निन्दा करने वाले (मनुष्य) स्वयं अपने और दूसरों के शरीर में (स्थित) मुझ से द्वेष करते हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १६-१९॥

16.19. मैं इन द्वेष करने वाले क्रूर (निर्दयी) नराधमों को संसार में बार-बार अशुभ आसुरी योनियों में ही डालता हूँ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ १६-२०॥

16.20. आसुरी योनियों में गिरे हुए, जन्म-जन्मांतर मूढ़ हुए, मुझे न प्राप्त होकर, हे कौन्तेय, तत्पश्चात निश्चित ही नीच गति को प्राप्त होते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः । कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ १६-२१॥

16.21. तीन प्रकार का यह आत्मा का नाश करने वाला नरक का द्वार है – काम, क्रोध तथा लोभ। इसलिए इन तीन को त्याग देना चाहिये।

सन्दर्भ: शब्दशः विष्णुस्मृति 33.6

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः । आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ १६-२२॥

16.22. हे कौन्तेय, नरक के इन तीन द्वारों से मुक्त पुरुष अपने कल्याण हेतु आचरण करता है, इससे (वह) परम गति को जाता है।

सन्दर्भ: योगवाशिष्ठ 4.33.15: लोभमोहरुषां यस्य तनुतानुदिनं भवेत् । यथाशास्त्रं विहरति स्वस्वकर्मसु सज्जनः ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ १६-२३॥

16.23. जो शास्त्र विधि को त्याग कर काम वासना के वश आचरण करता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न सुख को, न परम गति को।

सन्दर्भ: योगवाशिष्ठ 2.5.2: मनसा वाञ्छते यच्च यथाशास्त्रं न कर्मणा। साध्यते मत्तलीलासौ मोहनी नार्थसाधनी।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ । ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ १६-२४॥

16.24. इसलिये कार्य (कर्तव्य) और अकार्य (अकर्तव्य) के निर्णय (व्यवस्था) में शास्त्र ही तुम्हारा प्रमाण है । शास्त्र विधान का कहा जानकर तुम्हे इस संसार में (तदनुसार) कर्म करना चाहिए।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

श्रद्धात्रयविभागयोगः

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा।
ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः । तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १७-१॥

17.1. हे कृष्ण, जो शास्त्र विधि को त्याग कर श्रद्धा-युक्त हुए पूजन करते हैं, तो उनकी स्थिति कौन सी है ? इसे सात्विकी कहते हैं या राजसी (या) तामसी?

टिप्पणी: यह श्लोक पिछले अध्याय के श्लोक संख्या 16.23 की निरंतरता में उन श्रद्धायुक्त मनुष्यों के विषय में है जो अज्ञानतावश अथवा गुरुओं के कहने के कारण (परन्तु जान बूझ कर नहीं - शंकराचार्य) अथवा आलस्य के कारण (मधुसूदन) शास्त्र विधि का पालन नहीं करते।

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान ने कहा।
त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा । सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ १७-२॥

17.2. जीवों की स्वभाव से उत्पन्न वह श्रद्धा तीन प्रकार की – सात्विकी, राजसी तथा तामसी – होती है । उनके विषय में सुन।

टिप्पणी: 'स्वभाव' का तात्पर्य 'पिछले जन्मों के कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त स्वभाव' 'जन्मान्तर में किये हुए धर्म-अधर्म आदि के जो संस्कार मृत्यु के समय प्रकट होते हैं उनका समुदाय' (शंकराचार्य), 'पिछले जन्मों से' (आनंदगिरि, श्रीधर, मधुसूदन), व अंत:करण इत्यादि से है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत । श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ १७-३॥

17.3. हे भारत, सब की श्रद्धा उनके स्वभाव के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा है, वह भी वैसा (ही) है|

टिप्पणी: पिछले श्लोक का 'स्वभाव' और इस श्लोक का 'सत्त्व' सामान्यतः समानार्थक समझे जाते हैं।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः । प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ १७-४॥

17.4. सात्विक (मनुष्य) देवताओं को पूजते हैं, राजस यक्ष और राक्षसों को, तामस मनुष्य प्रेत (और) भूतगणों तथा अन्य को पूजते हैं।

सन्दर्भ: भागवत पुराण 1.2.26 और 27: मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ । नारायणकला: शान्ता भजन्ति ह्यनसूयव: ॥ रजस्तम:प्रकृतय: समशीला भजन्ति वै । पितृभूतप्रजेशादीन्श्रियैश्वर्यप्रजेप्सव: ॥ और, भागवत पुराण 11.25.27: सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी । तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः । दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ १७-५॥

17.5. जो, दम्भ (और) अहंकार से युक्त (एवं) काम, राग, बल से उत्तेजित (प्रेरित), मनुष्य शास्त्र विधि से रहित घोर तप को तपते हैं ;

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः । मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ १७-६॥

17.6. (वे) अज्ञानी शरीर में स्थित भूत समुदाय को और अन्त:करण में स्थित मुझ (परमात्मा) को भी कृश (कमजोर) करते हैं, उनको तू असुर निश्चय (स्वभाव) वाले जान |

टिप्पणी: श्रीधर और तिलक के अनुसार भूतग्राम का अर्थ पञ्चभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी) है ।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः । यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ १७-७॥

17.7. वास्तव में, सबका प्रिय भोजन भी तीन प्रकार का होता है ; वैसे ही यज्ञ, तप (और) दान । उनके ये भेद सुनो ।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः । रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ १७-८॥

17.8. आयु, ऊर्जा (जीवन-शक्ति), बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले रस-युक्त, चिकने, स्थिर रहने वाले (और) स्वादिष्ट आहार सात्विक (मनुष्य) को प्रिय होते हैं ।

सन्दर्भ: छांदोग्य उपनिषद् 7.26.2: आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि ।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः । आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ १७-९॥

17.9. कड़वे, खट्टे, लवण-युक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक (जले हुए); (और) दुःख, चिन्ता तथा रोग को उत्पन्न करने वाले आहार राजस (मनुष्य) को पसंद होते हैं|

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् । उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १७-१०॥

17.10. जो अधपका, रस-रहित, दुर्गन्ध-युक्त, बासी व जो बचा हुआ (झूठा) व अपवित्र भी है, वह भोजन तामस (मनुष्य) को प्रिय होता है ।

सन्दर्भ: भागवत पुराण 11.25.28: पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम्। राजसं चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसं चार्तिदाशुचि॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते । यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ १७-११॥

17.11. जो यज्ञ फल की इच्छा न रखने वालों द्वारा, शास्त्र द्वारा नियत विधि से, 'यह करना ही कर्तव्य है' ऐसा मन में निर्णय करके, किया जाता है, वह सात्विक है।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् । इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १७-१२॥

17.12. परन्तु हे भरतश्रेष्ठ, जो यज्ञ फल की इच्छा से और केवल दम्भाचरण के लिये भी किया जाता है, उस यज्ञ को राजस जानो।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् । श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १७-१३॥

17.13. शास्त्र-विधि से हीन, बिना अन्नदान, बिना मन्त्रों के, बिना दक्षिणा और बिना श्रद्धा के किये जाने वाले यज्ञ को तामस कहते हैं।

टिप्पणी: अधिकतर विचारक 'असृष्टान्न' का अर्थ 'अन्न नहीं दिया जाना' करते हैं परन्तु रामानुजाचार्य के अनुसार इसका अर्थ 'शास्त्रविहित वस्तुओं का प्रयोग न करना' है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् । ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १७-१४॥

17.14. देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शरीर सम्बन्धी तप कहा जाता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् । स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १७-१५॥

17.15. जो वाक्य (भाषण) उद्वेग न करने वाला, सत्य (यथार्थ-रूप), प्रिय और हित कारक भी है , एवं शास्त्रों के पठन का अभ्यास, (यह सब) वाणी का तप कहा जाता है।

सन्दर्भ: मनुस्मृति 4.138: सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः । भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १७-१६॥

17.16. मन की प्रसन्नता (शांति), सौम्यता, मौन, मन का निग्रह, भावों की शुद्धि; इस प्रकार यह मन का तप कहा जाता है।

टिप्पणी: 'मनः प्रसादः' का तात्पर्य 'मन की परम शान्ति अथवा स्वच्छता'(शंकराचार्य), मन का क्रोध आदि से रहित होना (रामानुजाचार्य) इत्यादि है। 'भावसंशुद्धि' का तात्पर्य 'दूसरों के साथ व्यवहार में छल-कपट से रहित होना' (शंकराचार्य), आत्मा से अतिरिक्त अन्य किसी विषय के चिंतन से रहित होना' (रामानुजाचार्य) इत्यादि है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः । अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७-१७॥

17.17. फल न चाहने वाले योगी मनुष्यों द्वारा परम श्रद्धा से किये हुए उस तीन प्रकार के (शरीर, वाणी और मन के) तप को सात्विक कहते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् । क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १७-१८॥

17.18. जो सत्कार, मान और पूजा के लिये तथा साथ ही दम्भपूर्वक किया जाता है वह अस्थिर एवं अस्थायी फल वाला तप यहाँ राजस कहा गया है।

टिप्पणी: यहाँ मधुसूदन ने 'इह' का अर्थ विशेषण के तौर पर 'सांसारिक' किया है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः । परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १७-१९॥

17.19. जो तप मूर्खता-वश, आत्म-पीड़ा (शरीर, वाणी व मन की) हेतु अथवा दूसरे के विनाश हेतु किया जाता है; वह तामस कहा गया है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे । देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ १७-२०॥

17.20. 'दान देना ही कर्तव्य है', (इस भाव से) जो दान उचित देश और काल में और पात्र को बिना प्रत्युपकार की इच्छा के दिया जाता है, वह दान सात्विक कहा गया है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः । दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ १७-२१॥

17.21. परन्तु जो प्रत्युपकार हेतु या फिर फल को ध्यान में रख कर तथा क्लेश पूर्वक दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते । असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १७-२२॥

17.22. जो दान अनुचित देश काल में और कुपात्र को बिना सत्कार के एवं तिरस्कार पूर्वक दिया जाता है, वह तामस कहा गया है।

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः । ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ १७-२३॥

17.23. ॐ, तत्, सत् - यह तीन प्रकार का ब्रह्म का नाम कहा है ; उस से आदि काल में ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञ रचे गये।

सन्दर्भ: ओमिति ब्रह्म (तैत्तिरीयोपनिषद 1.8); तत्त्वमसि (छांदोग्य उपनिषद् 6.8.7) और सदेव सोम्येदमग्र आसीत् (छांदोग्य उपनिषद् 6.2.1).

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः । प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ १७-२४॥

17.24. इसलिये ब्रह्मवादियों की शास्त्र में कही गयी यज्ञ, दान, तप की क्रियाएँ सदा ॐ के उच्चारण से आरम्भ होती हैं।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः । दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ १७-२५॥

17.25. तत् के उच्चारण के साथ, फल को लक्ष्य न करके यज्ञ, तप व दान की अनेक क्रियाएँ मोक्ष की इच्छा वालों द्वारा की जाती हैं।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते । प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ १७-२६॥

17.26. 'सत्', यह इस प्रकार, सत्य भाव में और साधु भाव में प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ, प्रशंसा के योग्य (उत्तम) कर्म में भी 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते । कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ १७-२७॥

17.27. यज्ञ, तप और दान में जो निरंतरता (स्थिरता) है, वह भी 'सत्' ऐसा कही जाती है और वास्तव में उस के लिये किया हुआ कर्म भी 'सत्' ऐसा कहा जाता है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् । असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ १७-२८॥

17.28. हे पार्थ, बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और अन्य जो कुछ (भी) किया हुआ (कर्म) है, वह 'असत्' ऐसा कहा जाता है ; वह न मरने के बाद (और) न (ही) इस लोक में (लाभदायक) है।

टिप्पणी: श्लोक संख्या 23-28 का सम्बन्ध ॐ, तत्, सत् से है। ॐ का प्रयोग इच्छित (सकाम) अथवा इच्छारहित (निष्काम) दोनों प्रकार के कार्यों (कर्मों) में किया जाता है। तत् का प्रयोग केवल इच्छारहित (निष्काम) कार्यों (कर्मों) में किया जाता है। सत् का प्रयोग शुभ कार्यों (कर्मों) में किया जाता है; जैसे पुत्र-जन्म, विवाह, आदि का अवसर । जॉन डेवीस के अनुसार इन श्लोकों की उत्पत्ति संदिग्ध है क्योंकि ये गीता की सामान्य विषय वस्तु से मेल नहीं खाते। परन्तु आनंदगिरि, श्रीधर, मधुसूदन, आदि के अनुसार कर्म (यज्ञ, तप और दान) की क्रिया करते हुए जो दोष (उपेक्षा, भूल अथवा प्रत्यक्ष फल के अभाव के कारण) उत्पन्न हो जाते हैं, उनके निस्तारण के लिए ॐ तत् सत् का उच्चारण किया जाता है। इस प्रावधान के कारण इन श्लोकों का यहाँ होना उचित ही है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

मोक्षसंन्यासयोगः

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा ।
संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् । त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १८-१॥

18.1. हे महाबाहो ! हे अन्तर्यामिन् ! हे वासुदेव ! मैं संन्यास और त्याग के तत्व को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ |

श्रीभगवानुवाच । श्रीभगवान ने कहा ।
काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः । सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ १८-२॥

18.2. पण्डितजन काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास समझते हैं; स्पष्ट-दृष्टा (विचार-कुशल) सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं ।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः । यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ १८-३॥

18.3. कुछ विद्वान् कहते हैं कि (सम्पूर्ण) कर्म दोष की तरह त्यागने के योग्य हैं परन्तु दूसरे (कहते हैं) कि यज्ञ, दान और तप की क्रिया त्यागने योग्य नहीं हैं ।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम । त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ १८-४॥

18.4. हे भरतश्रेष्ठ, अब मुझ से त्याग के विषय में निश्चयपूर्वक सुनो । हे पुरुषव्याघ्र, वास्तव में त्याग तीन प्रकार का कहा गया है ।

टिप्पणी : यहाँ तीन गुणों के आधार पर तीन प्रकार के त्याग का संदर्भ है । परन्तु रामानुजाचार्य के अनुसार यहाँ तीन प्रकार के त्याग हैं - फल विषयक, कर्म विषयक और कर्तृत्व विषयक ।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् । यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ १८-५॥

18.5. यज्ञ, दान और तप रूप कर्म त्यागने के योग्य नहीं है, बल्कि वह कर्तव्य कर्म हैं; क्योंकि यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों को पवित्र करने वाले हैं ।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च । कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ १८-६॥

18.6. परन्तु हे पार्थ, इन कर्मों को भी आसक्ति व फलों का त्याग करके करना चाहिये, यह मेरा निश्चित व अंतिम (उत्तम) मत है ।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते । मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ १८-७॥

18.7. परन्तु नियत कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए । मोहवश उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है । (गीता 3.8 देखें)

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् । स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ १८-८॥

18.8. जो कर्म, क्योंकि कष्ट-कारक है, शारीरिक क्लेश के भय से त्याग दिया जाता है; वह ऐसा राजस त्याग करके त्याग के फल को नहीं पाता।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन । सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ १८-९॥

18.9. हे अर्जुन, जो शास्त्र-विहित कर्म करने योग्य समझकर, आसक्ति और फल का त्याग करके, किया जाता है – वह त्याग सात्विक माना गया है ।

सन्दर्भ: कूर्म पुराण 1.3.19: कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं सङ्गवर्जितम् । क्रियते विदुषा कर्म तद्भवेदपि मोक्षदम् ॥ विद्वान् मनुष्य द्वारा आसक्ति रहित होकर जो भी नियत कर्म कर्त्तव्य समझकर किया जाता है, वह कर्म भी मोक्ष देने वाला हो जाता है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते । त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १८-१०॥

18.10. जो अकुशल (अप्रिय) कर्म से द्वेष नहीं करता और कुशल (प्रिय) कर्म से प्रेम नहीं करता – ऐसा मनुष्य त्यागी, सत्व से युक्त, मेधावी, संशयरहित है|

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः । यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ १८-११॥

18.11. देहधारी द्वारा सम्पूर्णता से कर्मों का त्याग नहीं किया जा सकता; परन्तु जो कर्म फल का त्यागी है वह त्यागी है - यह कहा जाता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् । भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १८-१२॥

18.12. जो त्यागी नहीं हैं उनका, मरने के पश्चात्, अनिच्छित (बुरा), इच्छित (अच्छा) और मिश्रित ऐसे तीन प्रकार का फल होता है, परन्तु सन्यासियों का कभी नहीं होता।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे । साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १८-१३॥

18.13. हे महाबाहो, सब कर्मों की सिद्धि के ये पांच कारण (हेतु) मुझ से जानो जो कर्मों के अन्त-रूपी (अथवा निष्कर्ष रूप में) सांख्यशास्त्र में कहे गये हैं।

टिप्पणी: यहाँ 'साङ्ख्य' का अर्थ 'वेदान्त' (शंकराचार्य, मधुसूदन) अथवा 'कपिल का सांख्य' (श्रीधर, तिलक, डेवीस) किया गया है। 'कृतान्त' साङ्ख्य का विशेषण है जिसका अर्थ भिन्न-भिन्न विचारकों ने अपने-अपने विचार से 'वेदान्त' (अर्थात् वेदों के कर्मकांड भाग का अंत), 'कर्म की समाप्ति' (अर्थात् जहाँ कर्म समाप्त या पूर्ण हो जाता है), 'जो बताता है कि कर्मफल से कैसे बचें' इत्यादि किया है। इस प्रकार 'साङ्ख्य' और 'कृतान्त' दोनों का अर्थ 'वेदान्त' हुआ है। कुछ विचारकों ने 'कृतान्त' का अर्थ 'निष्कर्ष (निचोड़)' भी किया है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् । विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १८-१४॥

18.14. अधिष्ठान (शरीर) और कर्ता (भोक्ता, आत्मा, विष्णु), तथा भिन्न-भिन्न करण (कर्मेन्द्रियां) एवं नाना प्रकार की अलग-अलग चेष्टाएँ और फिर पाँचवां यहाँ दैव है ।

टिप्पणी: यहाँ 'दैवं' का अर्थ शंकराचार्य ने 'चक्षु आदि इन्द्रियों के अनुग्राहक सूर्यादि देव' किया है और श्रीधर ने इसमें 'सर्वप्रेरक, अंतर्यामी' जोड़ दिया है। रामानुजाचार्य ने इसका अर्थ 'अंतर्यामी परमात्मा' और तिलक ने 'संसार-कार्य चलते रहते हैं, चाहे उनका कोई संवाहक हो या न हो' ऐसे किया है। थॉमसन इसका अर्थ 'दैवीय इच्छा' करके साथ ही 'हालात, भाग्य' कर देते हैं क्योंकि कपिल अथवा श्रीकृष्ण के सांख्य में दैवीय इच्छा का कोई स्थान नहीं है। हिल के अनुसार इसका तात्पर्य 'इन्द्र, वायु आदि देवों की अध्यक्षता में तत्वों की गतिविधि का क्षेत्र' है; परन्तु साथ ही वे इस प्रकार के विभाजन को अस्पष्ट मानते हैं।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः । न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १८-१५॥

18.15. मनुष्य शरीर, वाणी और मन से न्यायोचित अथवा इसके विपरीत जो कर्म करता है — उसके ये पांच हेतु (कारण) हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः । पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १८-१६॥

18.16. परन्तु, ऐसा होने पर भी, जो अशुद्ध बुद्धि (अथवा समझ) के कारण स्वयं को ही कर्ता समझता है, वह दुर्बुद्धि यथार्थ नहीं समझता ।

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १८-१७॥

18.17. जिसमें अहंकार (मैं कर्ता हूँ) का भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि (फल की इच्छा से) लिप्त (दूषित) नहीं है, वह इन लोगों को मार कर भी (वास्तव में) न तो मारता है न (इन कर्मों से) बंधता है ।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना । करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः ॥ १८-१८॥

18.18. ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय यह तीन प्रकार की कर्म-प्रेरणा है और करण, कर्म तथा कर्ता (व्याकरण के 8 कारकों में से प्रथम 3) – यह तीन प्रकार का कर्म-संग्रह है ।

टिप्पणी 1: कर्मचोदना संज्ञानात्मक (सोचने की क्रिया) है और कर्मसंग्रह व्यवहारात्मक (करने की क्रिया) है । सोचना करने से पहले होता है। तेलंग 'कर्मसङ्ग्रह' का अर्थ 'कार्य-संक्षेप' करते हैं। कर्म की तीनों प्रेरणा तीनों संग्रह से सम्बंधित हैं - करण ज्ञान से, कर्म ज्ञेय से और कर्ता परिज्ञाता से (थॉमसन)।

टिप्पणी 2: इस श्लोक के पिछले आधे भाग में 'कर्म' शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है - पहले 'कर्म' का अर्थ संस्कृत के द्वितीय कारक के रूप में हुआ है जबकि दूसरे 'कर्म' को उसके सामान्य अर्थ 'कार्य' के रूप में लिया है। शङ्कराचार्य, श्रीधर, मधुसूदन, थॉमसन आदि यही अर्थ मानते हैं। परन्तु कुछ दूसरे विचारक दोनों का अर्थ 'कार्य' मानते हैं क्योंकि वे इसे अगले श्लोकों के 'कार्य' से जोड़कर देखते हैं।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः । प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १८-१९॥

18.19. गुणों के सांख्य शास्त्र में ज्ञान और कर्म (अर्थात क्रिया) तथा कर्ता गुणों के भेद से तीन-तीन प्रकार के ही कहे गये हैं। उनको भी यथावत् (जैसे हैं) सुनो ।

टिप्पणी: थॉमसन और तेलंग ने 'गुणसङ्ख्याने' का अर्थ 'गुणों की गिनती में' किया है।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते । अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ १८-२०॥

18.20. जिस ज्ञान से सब भूतों में एक अविनाशी भाव, विभक्तों में अविभक्त रूप से, दिखाई देता है, उस ज्ञान को सात्विक जानो ।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् । वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ १८-२१॥

18.21. परन्तु जो ज्ञान सारे भूतों में, भिन्नता के कारण, नाना प्रकार के भावों को अलग-अलग जानता है, उस ज्ञान को राजस जानो ।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् । अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १८-२२॥

18.22. परन्तु जो (ज्ञान) एक कार्य में ही सम्पूर्ण की तरह आसक्त रहता है; जो युक्ति-रहित, तात्विक अर्थ से रहित और तुच्छ है – वह तामस कहा गया है |

टिप्पणी: 'कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्यं' का तात्पर्य है 'एक भाग को सम्पूर्ण समझ लेना' जैसे शरीर अथवा प्रतिमा में से एक ही से बंध जाना (यह समझकर कि यह आत्मा या ईश्वर इतना ही है, इससे अधिक कुछ नहीं - शंकराचार्य) जो कि अहैतुकम् है अर्थात् तर्कसंगत नहीं है (श्रीधर)। अहैतुकम् के कुछ अन्य अर्थ हैं – 'सृष्टि की उत्पत्ति के सही कारण का न जानना' (थॉमसन); 'उनका ज्ञान सही निर्णय क्षमता (विवेक) पर आधारित न होना (लासन्न) आदि।

सन्दर्भ: भागवत पुराण 11.25.24: कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत्। प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् । अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ १८-२३॥

18.23. जो कर्म (शास्त्र द्वारा) नियत, लगाव से रहित तथा फल न चाहने वाले मनुष्य द्वारा बिना राग-द्वेष के किया जाता है, वह सात्विक कहलाता है ।

टिप्पणी: रामसुखदास के अनुसार 'सङ्गरहितम्' पद का तात्पर्य है 'कर्तृत्वाभिमान से रहित' क्योंकि 'संग' शब्द अलग से 'अरागद्वेषतः' द्वारा सम्बोधित हो गया है ।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः । क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ १८-२४॥

18.24. परन्तु जो कर्म भोगों की इच्छा से अथवा पुनः अहंकार के द्वारा (व) बहुत परिश्रम से किया जाता है, वह राजस कहा गया है ।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् । मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ १८-२५॥

18.25. जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचार कर अज्ञान के कारण किया जाता है, वह तामस कहा जाता है ।

सन्दर्भ: भागवत पुराण 11.252.3: मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत् । राजसं फलसङ्कल्पं हिंसाप्रायादि तामसम् ॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः । सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ १८-२६॥

18.26. जो कर्ता संगरहित, अहंकार से मुक्त, धैर्य और उत्साह से युक्त, सिद्धि और असिद्धि (सफलता और विफलता) में निर्विकार (सम भाव) है, (वह) सात्विक कहा जाता है ।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः । हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ १८-२७॥

18.27. जो कर्ता रागी, कर्मों के फल को चाहने वाला, लोभी, हिंसात्मक, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोक से लिप्त है, वह राजसिक कहा गया है ।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः । विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ १८-२८॥

18.28. जो कर्ता अयुक्त, असभ्य, घमंडी, धूर्त, परवृत्ति छेदन में तत्पर, आलसी, विषादी व दीर्घ सूत्री है, वह तामसिक कहा जाता है ।

टिप्पणी 1: 'प्राकृत' का तात्पर्य है 'अविवेकी' (थॉमसन), 'जो विचारवान न हो' (तेलंग), अशिष्ट (हिल) ।

टिप्पणी 2: 'नैष्कृतिक' का तात्पर्य है 'दूसरों के कार्य में दोषान्वेषण' परन्तु कुछ विचारक इसे 'नैकृतिक' पढ़ते हैं जिसका अर्थ भी 'शठ' जैसा है

सन्दर्भ: भागवत पुराण 11.25.26: सात्त्विक: कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजस: स्मृत:। तामस: स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रय: ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु । प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥ १८-२९॥

18.29. हे धनञ्जय, (अब) बुद्धि और धृति का भी गुणों के आधार पर तीन प्रकार का भेद (मेरे द्वारा) सम्पूर्णता से विभाग पूर्वक कहा जाने वाला सुनो ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये । बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ १८-३०॥

18.30. हे पार्थ, जो बुद्धि प्रवृति और निवृत्ति, कर्तव्य और अकर्तव्य, भय और अभय तथा बन्धन और मोक्ष को यथार्थ जानती है, वह सात्विकी है । (प्रवृत्ति और निवृत्ति के लिए 'गीता 16.7 भी देखें) ।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च । अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ १८-३१॥

18.31. हे पार्थ, मनुष्य जिस बुद्धि के द्वारा धर्म और अधर्म तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को सही से नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है ।

टिप्पणी: 'अयथावत्' का तात्पर्य 'भ्रम की स्थिति' (बर्नआउफ), 'गलत धारणा बना लेना' (थॉमसन) आदि है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता । सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ १८-३२॥

18.32. हे पार्थ, जो बुद्धि अंधकार से घिरी होने के कारण अधर्म को 'यह धर्म है' ऐसा मानती है और सब वस्तुओं को विपरीतार्थ मानती है, वह तामसी है ।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः । योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ १८-३३॥

18.33. हे पार्थ, जिस धृति द्वारा, शुद्ध योग से, मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाएं धारण की जाती हैं; वह धृति सात्विकी है ।

टिप्पणी: 'धृति' का अर्थ 'धैर्य' है परन्तु यहाँ 'संकल्प में दृढ़ता' माना गया है। 'योगेनाव्यभिचारिण्या' का तात्पर्य 'सदा समाधि में लगी हुई धारणा' (शङ्कराचार्य); 'व्यभिचार दोष से रहित, विषयांतर को न धारण करने वाली' (श्रीधर), आदि लिया गया है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन । प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ १८-३४॥

18.34. परन्तु हे पार्थ, आसक्ति के कारण फल का आकांक्षी, जिस धृति द्वारा धर्म, काम और अर्थ को धारण करता है, वह धृति राजसी है ।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च । न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ १८-३५॥

18.35. हे पार्थ, जिस के कारण दुर्बुद्धि (मनुष्य) निद्रा, भय, शोक, विषाद, और उन्मत्तता भी नहीं छोड़ता है, वह धृति तामसी है ।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ । अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ १८-३६॥

18.36. और हे भरत श्रेष्ठ, अब तीन प्रकार के सुख को मुझसे सुनो, जहाँ मनुष्य (भजन, ध्यान, सेवादि के) अभ्यास से रमण करता है और दुःखों के अन्त को प्राप्त हो जाता है ।

टिप्पणी: यहाँ 'अभ्यास' का अर्थ है 'बारम्बार (निरंतर) । रामसुखदास के अनुसार 'अभ्यासाद्रमते' का तात्पर्य है 'सात्त्विक सुख में अभ्यास से रमण होता है' (अर्थात् सात्त्विक सुख के लिए अभ्यास चाहिए) (जबकि राजसिक व तामसिक सुख में स्वतः स्वाभाविक आकर्षण के कारण अभ्यास नहीं करना पड़ता)।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् । तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ १८-३७॥

18.37. वह जो आरम्भ में विष जैसा परन्तु परिणाम में (अंततः) अमृत-तुल्य होता है; वह आत्म-बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न सुख सात्विक कहा गया है ।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् । परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ १८-३८॥

18.38. वह जो पहले अमृत के तुल्य परन्तु परिणाम में विष जैसा होता है; वह विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न सुख राजसिक कहा गया है ।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः । निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १८-३९॥

18.39. जो सुख आरम्भ में तथा परिणाम में भी आत्मा को मोहित करने वाला है; वह निद्रा, आलस्य, प्रमाद से उत्पन्न तामसिक कहा गया है ।

सन्दर्भ: भागवत पुराण 11.25.29: सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम्। तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः । सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ १८-४०॥

18.40. पृथ्वी में या आकाश में या देवताओं में भी कहीं ऐसा कोई सत्त्व (जीव) नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से मुक्त हो ।

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 4.5: अजाम् एकाम् लोहितशुक्लकृष्णम् बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । भागवत पुराण 11.25.31: सर्वे गुणमया भावा: पुरुषाव्यक्तधिष्ठिता:। दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप । कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ १८-४१॥

18.41. हे परंतप, ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के कार्य (उनके अपने) स्वभाव से उत्पन्न गुणों के अनुसार विभक्त किये गये हैं ।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च । ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ १८-४२॥

18.42. शम (अन्त:करण का निग्रह), दम (इन्द्रियों का दमन), तप, शुद्धि, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य (श्रुति, परमात्मा में विश्वास) – ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कार्य हैं । (शम और दम के लिए गीता 10.4 भी देखें) ।

सन्दर्भ: मनुस्मृति 1.88: अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् । दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ १८-४३॥

18.43. शूरवीरता, तेज, धैर्य, दक्षता और युद्ध से न भागना भी; दान देना और स्वामिभाव – ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कार्य हैं ।

सन्दर्भ: मनुस्मृति 1.89: प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च । विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् । परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ १८-४४॥

18.44. खेती, गौ-रक्षा (पालन), व्यापार – ये वैश्य के स्वाभाविक कार्य हैं । ऐसे ही परिचर्यात्मक सेवा शूद्र का स्वाभाविक कार्य है ।

सन्दर्भ : मनुस्मृति 1.90: पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च । वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ और,
मनुस्मृति 1.91: एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः । स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ १८-४५॥

18.45. अपने-अपने (स्वाभाविक) कार्यों में लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है । अपने कार्य में लगा हुआ (मनुष्य) कैसे सिद्धि प्राप्त कर लेता है, वह सुनो ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ १८-४६॥

18.46. जिस (परमात्मा) से प्राणियों की उत्पत्ति हुई है, जिससे यह सब (समस्त जगत्) व्याप्त है, उसकी अपने (नियत) कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धि (सफलता) को प्राप्त कर लेता है ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ १८-४७॥

18.47. अच्छी प्रकार निभाए गए दूसरे के धर्म से अपना धर्म गुणरहित (होकर भी) उत्तम है । स्वभाव द्वारा नियत किये हुए कर्म को करता हुआ (मनुष्य) पाप को नहीं प्राप्त होता । (गीता 3.35 का पहला आधा भाग भी देखें) ।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् । सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ १८-४८॥

18.48. हे कौन्तेय, दोष युक्त होने पर भी सहज कर्म को नहीं त्यागना चाहिये; क्योंकि धुएॅ से अग्नि की भाँति सभी कर्म (किसी न किसी) दोष से युक्त (ढके हुए) हैं ।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः । नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ १८-४९॥

18.49. सर्वत्र अनासक्त बुद्धि वाला, जीते हुए अन्तःकरण वाला, इच्छा (कामना) से रहित मनुष्य संन्यास (सांख्य योग) द्वारा समस्त कर्मों तथा उनके कर्मफल से परम सिद्धि (निवृत्ति, मुक्ति) को प्राप्त हो जाता है ।

टिप्पणी: यहाँ 'संन्यास' का अर्थ है 'इच्छाओं का परित्याग' । नैष्कर्म्य के लिए गीता 3.4 देखें।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे । समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ १८-५०॥

18.50. सिद्धि-प्राप्त (मनुष्य) जिस प्रकार ब्रह्म, जो ज्ञान की परम निष्ठा है, को प्राप्त होता है; उसे, हे कौन्तेय, केवल संक्षेप में मुझसे जानो ।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च । शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ १८-५१॥

18.51. विशुद्ध बुद्धि से युक्त होकर तथा धृति के द्वारा स्वयं (मन, इन्द्रियों) को संयमित करके, शब्दादि विषयों का त्याग करके और राग-द्वेष का परित्याग करके;

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः । ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ १८-५२॥

18.52. एकान्त वासी, कम खाने वाला, वाणी, शरीर और मन को वश में कर लेने वाला, सदैव ध्यानयोग (शङ्कराचार्य के अनुसार 'ध्यान और योग') के परायण, वैराग्य के आश्रित;

सन्दर्भ: नारद भक्ति सूत्र 47: यो विविक्तस्थानं सेवते यो लोकबन्धमुन्मूलयति निस्त्रैगुण्यो भवति योगक्षेमं त्यजति ।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् । विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १८-५३॥

18.53. अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह (धनादि का संग्रह) का त्याग करके, ममत्व से रहित तथा शान्त होकर ब्रह्मप्राप्ति का पात्र हो जाता है।
टिप्पणी : 'परिग्रहम् का तात्पर्य है - 'लोभ', 'सारी संपत्ति' (तेलंग) । 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' के लिए गीता 14.26 देखें।

सन्दर्भ: योगवाशिष्ठ 2.13.41: विवेकमात्रसाध्यं तद्विचारैकान्तनिश्चयम् । त्यजता दुःखजालानि नरेणैतदवाप्यते ॥ और, कूर्म पुराण 1.3.25 and 26: संप्राप्य परमं ज्ञानं नैष्कर्म्यं तत्प्रसादत: । एकाकी निर्मम: शान्तो जीवन्नेव विमुच्यते । वीक्षते परमात्मानं परं ब्रह्म महेश्वरम् । नित्यानन्दं निराभासं तस्मिन्नेव लयं व्रजेत् । उसके प्रसाद से परम ज्ञान नैष्कर्म्य प्राप्त करके वह एकाकी, ममता-शुन्य, शान्त (मनुष्य) जीवनकाल में ही मुक्त हो जाता है । वह नित्यानन्द, निराभास, परमात्मा, परंब्रह्म, महेश्वर का दर्शन कर लेता है और उसी में विलीन हो जाता है ।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्ति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ १८-५४॥

18.54. ब्रह्म में एकीभाव हुआ, प्रसन्नात्मा, न शोक करता है न आकाँक्षा करता है । समस्त प्राणियों में सम भाव वाला (वह) मेरी परम भक्ति को प्राप्त हो जाता है ।

टिप्पणी: 'भूतः' का अर्थ है 'बन गया' । शङ्कराचार्य के अनुसार इसका तात्पर्य है 'ब्रह्म को प्राप्त हुआ' और श्रीधर के अनुसार 'ब्रह्म में स्थित हुआ' । 'ब्रह्मभूयाय' से तुलना के लिए गीता 14.26 और 18.53 देखें ।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ १८-५५॥

18.55. भक्ति के द्वारा वह तत्त्व (यथार्थ) से जान लेता है कि मैं कौन हूँ और कितना महान हूँ । उसके उपरांत मुझे तत्त्व से जान कर (वह) तत्काल (मुझ में) प्रविष्ट हो जाता है ।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः । मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ १८-५६॥

18.56. सदा सब कार्यों को करता हुआ भी, मेरे परायण हुआ (वह) मेरी कृपा से सनातन, अव्यय पद को प्राप्त हो जाता है ।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः । बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ १८-५७॥

18.57. (हे अर्जुन) मन से सब कर्मों को मुझ में अर्पण करके तथा बुद्धि-योग का आश्रय लेकर मेरे परायण और निरन्तर मुझ में चित्त वाला हो ।

टिप्पणी 1: हिल ने इस श्लोक को कर्म, ज्ञान और भक्ति का आधारभूत सिद्धांत माना है ।

टिप्पणी 2: 'चेतसा' का तात्पर्य 'विवेक बुद्धि से' (शङ्कराचार्य), 'यह विश्वास कि केवल ज्ञान से मोक्ष मिलता है, कर्म से नहीं' (आनंदगिरि) आदि से लिया गया है । 'बुद्धियोगमुपाश्रित्य' का अर्थ तेलंग ने 'निश्चित संकल्प की शक्ति के साथ भक्ति करो' और हिल ने 'बुद्धिमत्ता पूर्वक निर्णय का अभ्यास करो' किया है ।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि । अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ १८-५८॥

18.58. मुझ में चित्त वाला होकर तुम मेरी कृपा से समस्त बाधाओं को पार कर जाओगे । परन्तु यदि अहंकारवश (मेरे वचनों को) नहीं सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे ।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे । मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ १८-५९॥

18.59. यदि अहंकार के आश्रित (वश) होकर यह मान रहे हो कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' (तो) तुम्हारा यह निश्चय मिथ्या (बेकार) है (क्योंकि तुम्हारा क्षत्रिय वाला) स्वभाव तुम्हे (युद्ध हेतु) विवश कर देगा ।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा । कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ १८-६०॥

18.60. हे कौन्तेय, जो तुम मोहवश करना नहीं चाहते, उसे अपने स्वभाव-जनित कर्म से बंधे हुए परवश होकर भी (हर हाल में) करोगे ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ १८-६१॥

18.61. हे अर्जुन, ईश्वर माया के द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों को यन्त्र में आरूढ़ हुओं (कठपुतलियों) की तरह भ्रमण करवाता हुआ, सब प्राणियों के ह्रदय-देश में स्थित है ।

सन्दर्भ: श्वेताश्वतर उपनिषद् 1.6: सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे। पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्ते-नामृतत्वमेति॥ मनुस्मृति 12.124: एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः। जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥ रामचरित-मानस अरण्यकाण्ड 2.2: ब्रह्म जीव बिच माया जैसी।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत । तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ १८-६२॥

18.62. हे भारत, सब प्रकार से उसकी ही शरण में जाओ । उसकी कृपा से तुम परम शान्ति तथा सनातन धाम को प्राप्त होवोगे।

सन्दर्भ : नारद भक्ति सूत्र 79: सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तैर्भगवानेव भजनीयः । नारद भक्ति सूत्र 81: त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया । विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १८-६३॥

18.63. इस प्रकार यह गोपनीय से भी अति गोपनीय ज्ञान मेरे द्वारा तुम्हें कहा गया है। इस पर पूर्णतया विचार करके जैसे चाहो वैसे करो।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः । इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ १८-६४॥

18.64. सम्पूर्ण गोपनीयों से अति गोपनीय मेरे परम वचन को फिर से सुनो । तुम मेरे अतिशय प्रिय हो, इसलिए यह तुम्हारे हित के लिए कहूँगा ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ १८-६५॥

18.65. मुझ में मन वाले हो, मेरे भक्त बनो, मेरा पूजन करने वाले हो और मुझको प्रणाम करो । तुम मुझे ही प्राप्त होवोगे, यह तुम से प्रतिज्ञा करता हूँ (सत्यं शब्द को जोर देने के लिए प्रयोग किया है) क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो । (गीता 9.34 भी देखें ।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ १८-६६॥

18.66. सम्पूर्ण धर्मों (कर्तव्यों) को त्याग कर तुम केवल मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा, शोक मत करो ।

टिप्पणी 1: यदि धर्म को मत या सम्प्रदाय के सीमित संदर्भ में लिया जाये तो इसका अर्थ है 'दूसरे सभी मतों या सम्प्रदायों को छोड़ कर केवल मेरी शरण में आ जाओ' परन्तु इस विचार को कोई अनुमोदन प्राप्त नहीं है, इसलिए यह स्वीकार नहीं किया जाता। तिलक के अनुसार इस श्लोक में भक्ति मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। विलियम जज के अनुसार 'धर्म' 'कर्तव्य' नहीं है अपितु 'धार्मिक विधि अर्थात् कार्मिक प्रारब्ध का अनेक जन्मों के माध्यम से निर्वाह करना है'। शंकराचार्य ने 'नैष्कर्म्य' के प्रतिपादनस्वरूप यहाँ 'धर्म' शब्द से 'अधर्म' का भी ग्रहण किया है। श्रीधर इसे 'विधि-कैंकर्य' (विधि की दासता) कहते हैं। तेलंग इसे 'वर्णाश्रम धर्म जैसे अग्निहोत्र इत्यादि' कहते हैं। 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' का तात्पर्य 'कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग का पालन करते हुए फल, कर्म और कर्तृत्व के त्याग द्वारा सबका परित्याग' (रामानुजाचार्य); 'सभी धर्मों का वस्तुतः परित्याग जैसे पूर्ववर्ती पापों का प्रायश्चित करने हेतु तप' (बलदेव), इत्यादि भी किया गया है।

टिप्पणी 2: रामानुजाचार्य (श्री वैष्णव सम्प्रदाय) और गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय के अनुयायी इस श्लोक को गीता शास्त्र का शिरोमणि श्लोक मानते हैं।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन । न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ १८-६७॥

18.67. तुम्हें यह (उपदेश) कभी भी न तो तप-रहित मनुष्य से, न भक्ति-रहित से और न बिना सुनने की इच्छा वाले से कहना चाहिये; तथा न उससे जो मुझ से ईर्ष्या रखता है ।

सन्दर्भ: कूर्म पुराण 2.11.106: एतद् रहस्यं वेदानां न देयं यस्य कस्यचित्। धार्मिकायैव दातव्यं भक्ताय ब्रह्मचारिणे। यह वेदों का रहस्य है, इसे जिस किसी को नहीं देना चाहिए। धार्मिक तथा ब्रह्मचारी भक्त को ही देना चाहिए। और, भागवत पुराण 11.29.30: नैतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च । अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम् ॥
श्वेताश्वतर उपनिषद् 6.22: वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्। नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः॥

टिप्पणी: थॉमसन का कहना है कि यहाँ अभ्यसूयति (अर्थात् ईर्ष्या) का प्रयोग शैवों के लिए हुआ है। परन्तु ईश्वरगीता (कूर्म पुराण) में स्वयं भगवान शिव भी इसी प्रकार कह रहे हैं। इसलिए इसका अर्थ सीमित न करके यह कह सकते हैं 'कोई भी जो श्रीकृष्ण के रूप में भगवान विष्णु से ईर्ष्या रखता है' अथवा 'जो गीता शास्त्र के उपदेश में विश्वास नहीं करता'। (गीता 3.32 व 9.3 भी देखें)।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति । भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ १८-६८॥

18.68. जो इस परम रहस्य को मेरे भक्तों में कहेगा, वह मुझ में परम भक्ति करके निस्संदेह (सब संदेहों से मुक्त होकर) मुझको ही प्राप्त होगा।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः । भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ १८-६९॥

18.69. न ही उससे बढ़ कर मेरा प्रिय कार्य करने वाला मनुष्यों में कोई है, (और) न ही उससे बढ़ कर भूलोक में मेरा प्रिय दूसरा कोई होगा ।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः । ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ १८-७०॥

18.70. जो मनुष्य हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का अध्ययन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा, ऐसा मेरा मत है ।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः । सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ १८-७१॥

18.71. जो मनुष्य श्रद्धा-युक्त और ईर्ष्या (दोष दृष्टि) से रहित होकर (इस उपदेश का) मात्र श्रवण करेगा, वह भी मुक्त होकर पुण्य कर्म करने वालों के शुभ लोकों को प्राप्त होगा ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा । कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥ १८-७२॥

18.72. हे पार्थ, क्या इसे तुम्हारे द्वारा एकाग्रचित होकर सुना गया है? हे धनंजय, क्या तुम्हारा अज्ञान और मोह नष्ट हो गया है?

अर्जुन उवाच । अर्जुन ने कहा।
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत । स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ १८-७३॥

18.73. हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और स्मृति प्राप्त हो गयी है, (अब) मैं संशय रहित होकर स्थित हूँ (अत:) आपका कहा हुआ करूँगा ।

टिप्पणी: स्मृतिर्लब्धा का अर्थ 'आत्मविषयक स्मृति प्राप्त कर ली है' (शङ्कराचार्य); 'यथार्थ तत्वज्ञान पा लिया है' (रामानुजाचार्य); 'स्वयं को पहचान गया हूँ' (श्रीधर, तेलंग); '(गीता का) पावन सिद्धांत (उपदेश) समझ गया हूँ' (डेवीस), इत्यादि किया गया है। इसका सम्बन्ध अर्जुन की टिप्पणी 'धर्मसम्मूढचेताः' से प्रतीत होता है, जो उसने गीता 2.7 में की थी, और जो अब उसी संदर्भ में 'स्मृतिर्लब्धा' कह रहा है।

सञ्जय उवाच । सञ्जय ने कहा।
इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः । संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ १८-७४॥

18.74. इस प्रकार मैंने वासुदेव और महात्मा अर्जुन के इस अदभुत रोमहर्षक (रोमाञ्चकारक) संवाद को सुना ।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् । योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ १८-७५॥

18.75. व्यास जी की कृपा से मैंने इस परम गोपनीय योग को साक्षात् योगेश्वर श्रीकृष्ण को कहते हुए स्वयं सुना है ।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् । केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ १८-७६॥

18.76. हे राजन्, केशव और अर्जुन के इस अदभुत और पुण्यं संवाद को स्मरण कर करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ |

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः । विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ १८-७७॥

18.77. हे राजन्, श्रीहरि के उस अति अद्भुत रूप को भी स्मरण कर करके मुझे महान् आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः । तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ १८-७८॥

18.78. जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं, जहाँ धनुषधारी अर्जुन हैं, वहां पर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है; ऐसा मेरा निश्चित मत है ।

टिप्पणी: श्रीधर के अनुसार 'श्री' का अर्थ 'राज्य-लक्ष्मी' और भूति का अर्थ 'अतिशय वृद्धि' है और ध्रुवा (निश्चित) का चारों (श्री, विजय, भूति और नीति) के साथ (विशेषण का) सम्बन्ध है। नीति का अर्थ तेलंग ने 'शाश्वत न्याय' और श्रीधर ने 'न्याय)' बताया है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८॥

ॐ शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशम् । विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यम् । वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥

अनुवादक के विषय में

इन्द्र कुमार गर्ग एक सेवानिवृत्त बैंक अधिकारी हैं जिनकी हिंदू धर्मग्रंथों में रुचि है। उनका जन्म अक्टूबर 1960 में वर्तमान हरियाणा राज्य के बुड्ढा खेड़ा (सफीदों के पास) गांव में हुआ था। अपने पैतृक गांव में 8वीं कक्षा तक प्रारंभिक स्कूली शिक्षा के बाद, वह हाई स्कूल की शिक्षा पूरी करने के लिए कौल (हरियाणा) चले गए। बूढ़ा खेड़ा और कौल दोनों महाभारत युद्ध के युद्ध-क्षेत्र का हिस्सा थे। इसलिए उस युद्ध के बारे में कई कहानियाँ और लोककथाएँ इन स्थानों से जुड़ी हुई हैं। लेखक इन कहानियों को सुनते हुए और महाभारत से जुड़े स्थानों का दौरा करते हुए बड़े हुए हैं। जिस स्थान पर कर्ण को अर्जुन द्वारा मारा गया था, उसे कौल में उसके स्कूल की छत से देखा जा सकता था। इस तरह वह खुद को इस गाथा से जोड़ते हैं।

उन्होंने डीएवी कॉलेज, अंबाला शहर से बीएससी की पढाई पूरी की। प्रारंभ में, उन्होंने हरियाणा के स्कूलों में विज्ञान और गणित के शिक्षक के रूप में काम किया। फिर, अमृतसर में सीमा शुल्क और केंद्रीय उत्पाद शुल्क निरीक्षक के रूप में एक संक्षिप्त कार्यकाल के बाद, उन्हें भारतीय स्टेट बैंक में एक परिवीक्षाधीन अधिकारी के रूप में नौकरी मिल गई, जहां उन्होंने सहायक महाप्रबंधक के रूप में सेवानिवृत्ति लेने से पहले लगभग 25 वर्षों तक काम किया। वर्तमान में वह यूएसए के कैलिफ़ोर्निया राज्य के फ्रेस्नो नगर में रहते हैं । उनके पास दो एमबीए डिग्रियां हैं - एक पंजाबी यूनिवर्सिटी पटियाला (भारत) से और दूसरी फ्रेस्नो स्टेट कैलिफोर्निया (यूएसए) से।

बचपन के दौरान औपचारिक पुस्तकालय तक पहुंच न होने के कारण, पढ़ने के लिए केवल स्कूल की किताबें या घर पर धार्मिक किताबें ही होती थीं। समय के साथ, धार्मिक साहित्य में रुचि बढ़ी, लेकिन भगवद गीता ने उन्हें सबसे अधिक आकर्षित किया, जैसा कि दुनिया भर के लाखों लोगों को होता है। वर्तमान कार्य उनके गीता पढ़ने और जीवन भर उसका अर्थ समझने की कोशिश का परिणाम है।